धर्म और उसका अभिप्राय

महायोगी श्यामाचरण लाहिड़ी
(लाहिड़ी महाशय)

ॐ श्री गुरुवे नमः

धर्म और उसका अभिप्राय

शिव नारायण लाल

राज भवन
लखनऊ 227132
जनवरी -11,1995

महामहिम राज्यपाल

उत्तर प्रदेश

श्री मोतीलाल वोरा के

दो शव्द

भगवान विश्वनाथ की नगरी काशी विद्या, साहित्य, संगीत एवं संस्कृति तथा विद्वतजनों की नगरी है, जहाँ साहित्य सृजन पुरातन काल से होता आया है। आज की वर्तमान परिस्थितियों में जहाँ साहित्य रचना एवं काव्य रचना का महत्व है, वहाँ श्री शिव नारायण लाल ने धर्म की परिभाषा और उसका अभिप्राय तथ्यपूर्ण तथा तर्कसम्मत आधार के साथ देकर काशी की गरिमा को प्रतिष्ठित किया है।

धर्म का सीधा सम्बन्ध प्रत्येक व्यक्ति की आन्तरिक चेतना से है। धर्म वस्तुतः इंसान को सही इंसान वनाता है। धर्म का प्रमुखतम ध्येय यही है कि वह दूसरे व्यक्तियों को वही आदर, सम्मान और स्नेह दे जो वह स्वयं दूसरों से अपने लिए चाहता है। धर्म परस्पर प्रेम, एकता, सद्भाव और सदाचार का संदेश देता है। धर्म आपस में बैर रखना नहीं सिखाता। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने 27 नवम्वर, 1925 के यंग इण्डिया के अंक में धर्म की परिभाषा करते हुए लिखा था कि **"धर्म के मायने वह धर्म नहीं जो अंध श्रद्धा वाला हो और द्वेष और लड़ाई की बात करता हो, बल्कि धर्म के मायने हैं, सहिष्णुता का वैश्विक धर्म।"** धर्म का सच्चे दिल से अनुपालन करने वालों को जीवन का सच्चा सुख और आनन्द मिलता और मोक्ष की प्रगति होती है। इस सम्बन्ध में रवीन्द्रनाथ टैगोर ने ठीक ही कहा है कि **"सेवा पर आधारित धर्म, प्रेम, करुणा, आत्मसम्मान और मानवता के प्रति आदर की भावना से ही सबको शक्ति, जीवन और खुशहाली मिलती है।"**

मुझे प्रसन्नता है कि श्री लाल ने "धर्म" के बारे में सारगर्भित पुस्तक लिखकर सराहनीय प्रयास किया है, जिससे जन-मानस को धर्म को समझने में बड़ी आसानी होगी।

इस पुस्तक में विज्ञान के आलोक में धर्म, गीता का संदेश, ब्राह्मण तथा ब्राह्मणवाद, भारतीय संस्कृति तथा रिलीजन आदि पर लेखक के विचार तथ्यों पर आधारित हैं और विद्वतापूर्ण हैं। लेखक की भाषा सरल तथा बोधगम्य है। इस महत्वपूर्ण एवं ज्ञानवर्धक पुस्तक के लेखन के लिए श्री लाल बधाई के पात्र हैं।

यह पुस्तक ज्यादा से ज्यादा लोकप्रियता अर्जित करे, इसके लिए मेरी शुभ-कामनाएँ।

मोतीलाल वोरा

पंडित करुणापति त्रिपाठी

भूतपूर्व कुलपति सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
एवं
पूर्व अध्यक्ष उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी लखनऊ की

शुभाशंसा

"धर्म" शब्द भारतीय ऋषियों की देन है। भारतीय ऋषियों द्वारा धर्म-शास्त्रों में दी गयी परिभाषाओं को पुस्तक में उद्धृत करते हुए उसका जो अभिप्राय व्यक्त किया गया है वह तर्कसम्मत तथा प्रामाणिक है।

"धर्म" शब्द का उद्भव संस्कृत भाषा के 'धृ' धातु से हुआ है। जिसका अर्थ होता है धारण करना अर्थात् धारण करना ही 'धर्म' है। भारतीय ऋषियों ने इसी सन्दर्भ में धर्म को परिभाषित करते हुए कहा है कि "धारणाद्धर्म इत्याहु:" अर्थात् (ब्रह्म को मन से) धारण करना ही धर्म है। इसका अभिप्राय इस प्रकार है - मन सब समय चंचल है। इसे स्थिर कर मन से ब्रह्म को धारण करना ही धर्म है। इसका परिणाम होता है ब्रह्म-साक्षात्कार, मोक्ष या ब्रह्म में लय होना। योगिराज सत्य चरण लाहिड़ी ने ठीक ही कहा है कि ब्रह्म-साक्षात्कार करना ही मनुष्य का धर्म है।

ब्रह्म-साक्षात्कार की अवस्था को प्राप्त ऋषि अन्तर्यामी दिव्य दृष्टि प्राप्त होते हैं। इस अवस्था को प्राप्त करना तब तक सम्भव नहीं जब तक मनुष्य के भीतर मानवता तथा नैतिकता (अहिंसा, सत्य, दान उपकार, दया, कृतज्ञता, क्षमा आदि) पूर्ण रूप से विकसित नहीं हो जाती। श्रद्धापूर्वक मन को जिस अनुपात में ईश्वर के साथ लगाया जाता है उसी अनुपात में मानवता तथा नैतिकता विकसित होती है।

मानवता तथा नैतिकता से परिपूर्ण समाज सभ्य सुसंस्कृत नैतिक एवं सदाचारी समाज होता है। अतः धर्म स्वयं व्यक्ति के लिए तथा समाज के लिए आवश्यक है। 'धर्म' रिलीजन का पर्यायवाची नहीं है। लेखक का उपर्युक्त निष्कर्ष तथ्यों पर आधारित तर्क सम्मत है।

पुस्तक में गीता का संदेश, भारतीय संस्कृति, ब्राह्मण तथा ब्राह्मणवाद, विज्ञान के आलोक में धर्म तथा धर्म निरपेक्षता आदि विषयों पर व्यक्त किये गये विचार विद्वतापूर्ण है। सभी तथ्य तर्कसम्मत हैं तथा अपेक्षित प्रमाणों द्वारा विश्वसनीय बन गया है। 'धर्म' शास्त्रों के तथ्यों के साथ रोचक कथानकों के वर्णन से पुस्तक रोचक बन गयी है। इसकी भाषा सहज और बोधगम्य है। ऐसी प्रशंसनीय पुस्तक के लिए लेखक बधाई का पात्र है।

करुणापति त्रिपाठी

पूर्व कुलपति, सं० सं० विश्वविद्यालय, वाराणसी
एवं पू० अध्यक्ष, उत्तरप्रदेश संस्कृत अकादमी, लखनऊ

पं० वागीश शास्त्री

निदेशक
अनुसंधान संस्थान
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी की

शुभाशंसा

यह चराचर जगत धर्म का अवलम्बन लेकर स्थिर है। अवलम्ब जितना दृढ़तर होगा, आधेय की अभिव्यक्ति भी उतनी ही प्रबल होगी। यह निर्विवाद रूप से सत्य है कि आधेय का धारक तत्व ही उसका स्वकीय धर्म बनता है। अग्नि का अग्नित्व क्या है? वह किस तत्व पर टिका हुआ है? उसका अवलम्ब कौन है? उसका धारक तत्व क्या है? अग्नि में वह कौन सा तत्व निहित है, जिसके अभाव में अग्नि का अग्नित्व नहीं रहता — इत्यादि विविध जिज्ञासाएँ जिज्ञासुओं के सम्मुख उपस्थित होती हैं।

अग्नि में उसके पूर्वज वायु और आकाश के नैरूप्य की अवस्थिति सर्वजनवेद्य है। जहाँ वायु स्पर्श और शब्द द्वारा वेद्य है, वहाँ आकाश की केवल ध्वनिवेद्यता सिद्ध है। किन्तु वे दोनों ही निरूप हैं, अमूर्त हैं। उनका चाक्षुष प्रत्यक्ष शक्य नहीं है। पंचमहाभूतों में सर्वप्रथम मूर्तत्व जिस महाभूत को प्राप्त हुआ है, वह है – अग्नि। अग्नि में आकाश के ध्वनितत्व के साथ वायु का स्पर्शतत्व भी विद्यमान है। किन्तु इन दोनों के अतिरिक्त वह रूप संवलित भी है, जिससे वायु और आकाश दोनों ही विरहित थे। रूपवत्ता अथवा मूर्तिमत्ता का सर्वप्रथम प्रकाश अग्नि में आविर्भूत होता है। उससे रूप भावुक लोचनों को संतृप्ति मिलती है।

समग्र ब्रह्माण्ड के चाक्षुष प्रत्यक्ष में प्रकाश ही तो हेतु बनता है। इस कारण तत्ववेत्ताओं का प्रकाश को ज्ञान का पर्याय मानना युक्तियुक्त है।

अग्नि कहाँ विद्यमान नहीं है? वह जल, स्थल, आकाश आदि में सर्वत्र व्याप्त है। यद्यपि सूक्ष्म रूप से वायुमण्डल में उसकी विद्यमानता है, तथापि वह प्रकट होता है स्थूल पदार्थ पर ही। उस काष्ठ में, जिस पर हम आसीन हैं, क्या अग्नि अन्तर्भूत नहीं है? अवश्य है। किन्तु उसमें अग्नि की स्थूल अभिव्यक्ति नहीं हुई है, क्योंकि अग्नि का धर्म अभिव्यक्त नहीं हुआ है। अग्निधर्म के अनभिव्यक्त रहने के कारण अग्नि को सूक्ष्म रूप से काष्ठ में अन्तर्निगूहित रह जाना पड़ा। जल यद्यपि शीतल है, तथापि समुद्रलहरियों के परस्पर घर्षण होने पर जल पर वडवानल की अभिव्यक्ति होती है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि अग्नि में वह कौन-सा धारक तत्व विराजमान है, जो उसे मूर्तरूप में प्रतिष्ठित किये रहता है, उसका अवलम्ब बना रहता है। जिस धारक तत्व के अन्तर्हित होने पर अग्नि को भी तिरोहित होना पड़ता है। उत्तर हो सकता है कि ब्रह्माण्ड के चाक्षुष प्रत्यक्ष का अभिव्यंजक हेतु प्रकाश ही अग्नि का अवलम्ब है, क्योंकि प्रकाश के तिरोहित होते ही अग्नि शीतल बन जाता है। यह सत्य तो है किन्तु परम सत्य नहीं है। कारण, प्रतिबिम्ब भाव से प्रकाश की अग्नितत्व से अन्यत्र भी सत्ता सम्भावित है। शीतांशु चन्द्रमा का प्रकाश तिग्मांशु आदित्य का प्रतिबिम्बमात्र है। मूलतः उसका आत्मीय धर्म नहीं है। अग्नि प्रकाशविशिष्ठ तो है किन्तु उस प्रकाश की शीतलता असम्भाव्य है। अशीतलता, उष्णता अथवा दाहकता के कारण ही अग्नि के अग्नित्व की उदग्रता बनती है। अग्नि का अग्नित्व जलतत्व या

पृथिवीतत्व पर प्रकाशित अथवा आविर्भूत होता है।

दाहकता ही अग्नि का यथार्थ धर्म है। दाहकता के न रहने पर अग्नि की सत्ता विलुप्त हो जाती है। तब अग्नि अग्नि न रहकर भस्मावशेष बन जाता है। एतदर्थ दाहकता ही अग्नि का धारक तत्व है, धर्म है। श्रीमद्भागवतमहापुराणकार का वचन है—

धारणाद् धर्म इत्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
यत् स्याद् धारण संयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥

प्रकाश और दाहकता के अतिरिक्त अग्निदेव के सात अन्य धर्म भी संकेतिक हैं। उपनिषद् में इन धर्मों को अग्नि की सात जिह्वाओं के रूप में प्रतिपादित किया गया है उनमें तीन रक्त, कृष्ण तथा धूम रंगों के अतिरिक्त उसकी क्रमिक गतियाँ — स्फुलिङ्गवत्ता, विकरालता (उग्रता) और मनोजवता तथा सातवाँ धर्म प्रकाश है। विलोम क्रम में पूर्ववर्ती ये सभी धर्म प्रकाश में और प्रकाश दाहकता में समर्पित हो जाता है।

यद्यपि शास्त्रों में धर्म की विविध परिभाषाएँ दी गई हैं, तथापि आधुनिक परिप्रेक्ष्य में लोकोपयोगिता की दृष्टि से ऐसी पुस्तक विरल है जिसमें सरल भाषा में तत्वबोध कराया गया हो। धर्म तथा राजनीति के सन्दर्भ में महाभारत इत्यादि ग्रन्थों में पुष्कल वर्णन मिलता है। किन्तु आधुनिक परिप्रेक्ष्य में धर्म को परिभाषित कर धर्मविरहित राजनीति अथवा धर्मसापेक्ष राजनीति जैसे दुष्कर विवेचनीय विषयों पर कोई साधक चिन्तक ही निर्णायक मत व्यक्त कर सकता है। श्री शिवनारायण लाल ने ढाई दशकों तक योगिराज सत्यचरण लाहिड़ी महाशय के चरणों का सान्निध्य प्राप्त कर उनके बहुमूल्य अनुभवपटलों को इस पद्यप्रसून

रूपी पुस्तक में गुम्फित कर धर्मजिज्ञासुओं का हितसाधन किया है। उन्होंने अपने उद्‌देश्य में पूर्ण सफलता प्राप्त की है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि जनता इस ग्रन्थ से लाभान्वित होगी। मैं इसके प्रचुर प्रचार की कामना करता हूँ।

वाग्योग-चेतनापीठम्
शिवाला, वाराणसी
का०शु० ४, २०५१ वि०
७-११-९४

वागीश शास्त्री
निदेशक
अनुसंधान संस्थान
सम्पूर्णानन्द सस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

प्रोफेसर रेवती रमण पाण्डे

अध्यक्ष :

धर्म एवं दर्शन विभाग

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी की

शुभाशंसा

शिव नारायण लालजी एक उच्च कोटि के साधक एवं योगी हैं। आप को योगीराज श्यामाचरण लाहिड़ी के पौत्र महान योगी सत्य चरण लाहिड़ी जी से योग साधना के पथ पर दीक्षित होने का सौभाग्य प्राप्त है। धर्म एवं अध्यात्म की दुरूह बातों को सामान्य जन तक पहुँचाने के लिये आपने अपनी पुस्तक "धर्म और उसका अभिप्राय" में जो प्रयास किया है, वह सर्वथा श्लाघ्य है। सरल हिन्दी भाषा के माध्यम से योग एवं अध्यात्म के कंटककीर्ण मार्ग को जितना सुगम आपने बनाने का यत्न किया है; ऐसा सामान्यतः अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिलता। कुण्ठा, निराशा की त्रासदी से अभिशप्त मानवता के लिये यह कृति एक वरदान होगी, ऐसी मेरी धारणा है। हमें विश्वास है कि लालजी अपनी साधना की अनुभूतियों को सरल एवं सुबोध भाषा के माध्यम से सामान्य जन तक संम्प्रेषित करने के व्रत को अबाध गति से करते रहेंगे। वह शतायु पर्यन्त स्वस्थ रहकर इस साधना व्रत को सम्पन्न करें।

रेवती रमण पांडे

अध्यक्ष :

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

वाराणसी

विख्यात योगी प्रकाश शंकर व्यास की

शुभाशंसा

श्री शिवनारायण लाल योगिराज सत्यचरण लाहिड़ी के निकट-तम शिष्य हैं। तेइस वर्ष के दीर्घकाल तक उनके सान्निध्य में रहकर आध्यात्म के गूढ़ तत्वों का अच्छा ज्ञान आपने प्राप्त किया है। इन गूढ़ तत्वों को तर्क वविज्ञान सम्मत ढंग से सरल तथा बोध गम्य भाषा में इनके द्वारा की गयी अभि व्यक्ति अत्यन्त प्रशंसनीय है। आपसे हुई लम्बी वार्ताओं के मध्य मुझे अनुभव हुआ कि गुरुदेव से प्राप्त दुर्लभ तथ्यों के ज्ञान का वृहद भंडार आपके पास है जिसके कुछ अंश योग एवं एक गृहस्थ योगी। तथा "धर्म और उसका अभिप्राय" पुस्तक में प्रकाशित हुआ है ये अत्यन्त लोकोपयोगी पुस्तकें हैं। देशभर में धर्म की परिभाषा को लेकर चल रही चर्चा के परिप्रेक्ष्य में धर्म को परिभाषित कर गुरुदेव और लाहिड़ी महाशय को गौरवान्वित किया है। हम ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि आप दीर्घायु प्राप्त कर पूज्य गुरुदेव द्वारा प्राप्त तथ्यो को लोकोपयोगी बनाते रहें।

प्रकाश शंकर व्यास

योगा क्लिनिक

एवं

ध्यानयोग केन्द्र

डी० १६/१६ मान मन्दिर

दशाश्यमेध, वाराणसी।

प्रस्तावना

धर्म शब्द का उद्भव संस्कृत भाषा में भारतीय ऋषियों द्वारा हुआ है परन्तु यह जानकर आश्चर्य होता है कि विश्वविद्यालयों में पढ़ाई जाने वाली तथा अन्य धर्म दर्शन की पुस्तकों में धर्म की जो परिभाषा दी गई है, लगभग सभी विदेशी विद्वानों द्वारा परिभाषित है। कहीं भी भारतीय ऋषियों तथा मनीषियों द्वारा परिभाषित सूत्रों, श्लोकों, कथनों को उद्धृत कर धर्म को परिभाषित नहीं किया गया है। जबकि धर्म को परिभाषित करते समय उनके कथन दृढ़ता के साथ व्यक्त किये गये हैं। जैसे—[१] असौ धर्मः, [२] वै धर्मः, [३] स धर्म इत्युच्यते, [४] परमो धर्मो [५] सो धर्मः, [६] इति धर्मः।

आज से लगभग १५० वर्ष पूर्व विश्व प्रसिद्ध महयोगी श्यामाचरण लाहिड़ी (लाहिड़ी महाशय) का अवतरण अध्यात्म की नगरी काशी में हुआ था। आप भारतीय ऋषि परम्परा के एक स्तम्भ के रूप में माने जाते हैं। आपके पुत्र योगिराज तीन कौड़ी लाहिड़ी और पौत्र योगिराज सत्यचरण लाहिड़ी भी उच्च योगी थे। ऋषियों की परम्परा का अनुकरण ही तीनों पीढ़ी में हुआ। योगिराज सत्यचरण लाहिड़ी के सान्निध्य में रहकर "धर्म और उसके अभिप्राय" को मैंने जैसा समझा उसे अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है।

धर्म शब्द धृ धातु से बना है जिसका अर्थ होता है धारण करना। प्रश्न उठता है कौन धारण करता है, किसको धारण करता है तथा किस प्रकार धारण करता है। इस सम्बन्ध में भारतीय ऋषियों का अभिप्राय इस प्रकार है—मनुष्य का मन सब समय चंचल है, यह

सभी समय किसी न किसी विषय में कुछ न कुछ सोचता रहता है इसे चारों ओर से समेट कर ब्रह्म या ईश्वर में लगा देना या धारण कर लेना है। तात्पर्य है मनुष्य द्वारा चंचल मन को स्थिर कर ईश्वर के साथ युक्त कर देना या मन से ईश्वर को धारण कर लेना ही धर्म है। महायोगी श्यामाचरण लाहिड़ी (लाहिड़ी महाशय) के पौत्र पूज्य गुरुदेव योगिराज सत्यचरण जी से पूछने पर उन्होंने कहा था कि "ब्रह्म साक्षात्कार कर लेना ही मनुष्य का धर्म है"। यह अवस्था प्राप्त होती है चंचल मन को स्थिर कर मन से ईश्वर को धारण करने पर।

चंचल मन को स्थिर करना अत्यन्त कठिन कार्य है। गीता में मानव की ओर से यही प्रश्न अर्जुन ने श्रीकृष्ण से किया है। जिसके प्रत्युत्तर में श्रीकृष्ण ने भी स्वीकार किया कि यह बड़ा कठिन है। गीता में वह इस प्रकार है—

चंचल हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवदृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

गीता—६/३४

अर्जुन बोले—यह मन बड़ा चंचल प्रमथन स्वभाव वाला, दृढ़ और बलवान है इसलिये उसका निरोध (स्थिर) करना मैं वायु को रोकने की भाँति अत्यन्त दुष्कर मानता हूँ।

श्रीकृष्ण उवाच—

असंशयं महाबाहो मनोदुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥

गीता—६/६५

श्रीकृष्ण ने कहा—इसमें कोई संशय नहीं है कि यह मन चंचल है और इसको निरुद्ध (स्थिर) करना कठिन है। परन्तु हे कुन्तीपुत्र (अर्जुन) यह योग साधना के अभ्यास और वैराग्य (अनावश्यक इच्छाओं से रहित होना) से निरुद्ध (स्थिर) होता है।

चंचल मन को स्थिर कर ईश्वर को मन से धारण करने पर ब्रह्म साक्षात्कार होता है। प्रश्न उठता है कि ब्रह्म साक्षात्कार का अभिप्राय क्या है ?

इस अनन्त विशाल ब्रह्माण्ड में हमारी पृथ्वी समुद्र में एक बूँद के समान है और करोड़ों अरबों वर्ष के बीच मनुष्य का जीवन मात्र लगभग सौ वर्ष का होता है। इस विशाल ब्रह्माण्ड को नियमित नियन्त्रित व संचालित करने वाली उस चेतनसत्ता अर्थात् ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेना ही मनुष्य का धर्म है। गीता में अर्जुन को समझाते हुए श्रीकृष्ण ने इस प्रकार कहा है—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्त मध्यानि भारत।
अव्यक्त निधनान्येव तत्र का परिदेवना॥

तात्पर्य है कि मनुष्य अपने जन्म के पूर्व अव्यक्त रहता है बीच में व्यक्त होता है और निधन के बाद पुनः अव्यक्त हो जाता है। अतः मनुष्य को भौतिक उपलब्धियों एवं सुखों के लिये शोक करने की कोई आवश्यकता नहीं है। उसे अपने अव्यक्त स्वरूप चेतन सत्ता या ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेना चाहिये। यह अवस्था (ब्रह्म साक्षात्कार) प्राप्त होती है ब्रह्म को मन से धारण करने पर। धर्म की परिभाषा देते हुए सूत्र में कहा गया है "सा धारेति इति धर्मः"। अर्थात् ब्रह्म (सा) को मन से धारण करना ही धर्म है।

मन का ईश्वर में लगना निर्भर करता है मानवीय तथा नैतिक गुणों पर। व्यक्ति के भीतर जिस अनुपात में मानवीय तथा नैतिक गुण (अहिंसा, सत्य, दान, उपकार, कृतज्ञता, दया तथा समर्पण आदि) विकसित होते हैं उसी अनुपात में मन ईश्वर में लगता है। इसीलिये इन गुणों अहिंसा, सत्य, दान, दया, उपकार, कृतज्ञता तथा समर्पण आदि को भी धर्म कहा गया है। ये मानवीय तथा नैतिक कर्तव्य सहायक धर्म हैं और ब्रह्म साक्षात्कार कर लेना मनुष्य जन्म का सर्वश्रेष्ठ धर्म है। जिस अनुपात में मनुष्य के भीतर इन मानवीय तथा नैतिक गुणों का उत्कर्ष होता है उसी अनुपात में वह सर्वश्रेष्ठ धर्म अर्थात् ब्रह्म साक्षात्कार के पथ पर अग्रसर होकर इस अवस्था को प्राप्त करता है। ब्रह्म साक्षात्कार अर्थात् इस अवस्था में मनुष्य के भीतर सभी मानवीय तथा नैतिक गुण अपनी पराकाष्ठा पर विकसित हो जाते हैं। मानवीय तथा नैतिक गुणों के इस विकसित रूप को ही धर्म के दस लक्षण कहे गये हैं जो इस प्रकार हैं—धृति, क्षमा, मनोनिग्रह, चोरी न करना, पवित्रता, इन्द्रिय संयम, बुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोध।

ब्रह्म साक्षात्कार की अवस्था अत्यन्त उच्चकोटि की होती है। इस अवस्था को प्राप्त ऋषि अन्तर्यामी, दिव्य दृष्टि प्राप्त, सर्वज्ञ हुआ करते हैं। ब्रह्म साक्षात्कार, ईश्वर साक्षात्कार, आत्म साक्षात्कार ज्ञान, आत्मज्ञान, ब्रह्म में लय, मोक्ष, परमपद, उन्मनी, मनोन्मनी, राजयोग, परमगति, परम शाश्वत पद, परम शान्ति पद, अमरत्व, शून्याशून्य, अमनस्क, अद्वैत, निरालम्ब, निरञ्जन, जीवनमुक्ति, योगारूढ़, ब्राह्मी स्थिति, सहजा तथा तुर्या आदि सभी एक अर्थ के वाचक हैं। इन सभी का तात्पर्य एक अवस्था प्राप्त करना अर्थात्

ब्रह्म को मन से धारण करना ही होता है। ये सब किसी दूसरी अवस्था के सूचक नहीं हैं।

आधुनिक विज्ञान ने आत्मा या चेतना को पकड़ने, बनाने, सम्पर्क तथा साक्षात्कार करने का अथक प्रयास किया है परन्तु अभी तक इसमें उसे कोई सफलता नहीं मिली है। अन्तर्यामी, दिव्य दृष्टि प्राप्त भारतीय ऋषियों का कथन है कि कोई भौतिक विधा नहीं है जिसके द्वारा उस चेतन सत्ता से सम्पर्क या साक्षात्कार किया जा सके। उससे साक्षात्कार के लिये सारी परिस्थितियाँ मनुष्य शरीर के भीतर उपलब्ध हैं और जिस वैज्ञानिक विधि से साक्षात्कार सम्भव है उसको ब्रह्मविद्या या योगविद्या कहते हैं। किसी भारतीय मनीषी ने कहा है कि "विज्ञान का जहाँ अन्त होता है वहीं से धर्म का प्रारम्भ है"। इसका तात्पर्य है कि चेतन सत्ता से साक्षात्कार करना भौतिक विज्ञान के सामर्थ्य के बाहर है अर्थात् इसी विन्दु पर विज्ञान का अन्त है और इसी चेतन सत्ता से साक्षात्कार करने की विधा का नाम धर्म है।

मनुष्य को जीवन संग्राम में कर्त्तव्य और चरम कर्त्तव्य (जीवन यात्रा की पूर्ति के लिये किये जाने वाले कार्य और ब्रह्म साक्षात्कार) दोनों का निर्वाह करना होता है। ईश्वर को समर्पित होकर समस्त कार्य किये जायँ। किसी भी लक्ष्य को प्राप्त करने के पूर्व ईश्वर की पूजा अर्चना कर उन्हें समर्पित होकर प्रबल पुरुषार्थ के साथ संघर्ष में उतर पड़ना ही भारतीय अध्यात्म और संस्कृति की आधारशिला और परम्परा है।

जीवात्मा का परमात्मा के साथ युक्त हो जाना ही रिलीजन कहलाता है और धर्म भी। एक ही अवस्था के वाचक होने के पश्चात् भी रिलीजन धर्म का पर्यायवाची नहीं है। धर्म वह वैज्ञानिक पद्धति

है जिस पर चलकर मनुष्य चेतन सत्ता या ब्रह्म से साक्षात्कार करने में सफल होता है। भारतीय संस्कृति इसी पर आधारित है।

धर्म ऐसा विषय है जिसे प्राथमिक शिक्षा के स्तर के लोग भी पढ़ने और समझने का प्रयास करते हैं। ऐसे लोग भी समझ सकें, मैंने सरल भाषा में लिखने का प्रयास किया है। मैं लेखक नहीं हूँ जिसके कारण भाषा में पुनरावृत्ति तथा अन्य त्रुटियाँ आ गई हैं। आशा करता हूँ पाठकगण इसके लिये क्षमा करेंगे।

पुस्तक प्रकाशित करना मेरे लिये संभव नहीं था। अतः इसको प्रकाशित करने के लिये मैंने योग संस्थान प्रकाशन को सौंप दिया। योग संस्थान प्रकाशन द्वारा पुस्तक प्रकाशित करने का भार स्वीकार कर लिया गया जिसका मैं आभारी हूँ। इसके साथ ही श्री प्रकाश शंकर व्यास, सोमल प्रसाद भट्टाचार्य एवं डा० ब्रह्मेश्वर मिश्रा द्वारा किये गये सर्वांगीण सहयोग तथा भाषा संशोधन के लिये डा० विश्वनाथ प्रसाद का मैं आभारी हूँ।

—शिवनारायण लाल

द्वारा—योग संस्थान प्रकाशन

अनुक्रमणिका

महायोगी श्यामाचरण लाहिड़ी
(लाहिड़ी महाशय)

योगिराज तीन कौड़ी लाहिड़ी
(पुत्र–महायोगी लाहिड़ी महाशय)

योगिराज सत्यचरण लाहिड़ी
(पौत्र-महायोगी लाहिड़ी महाशय)
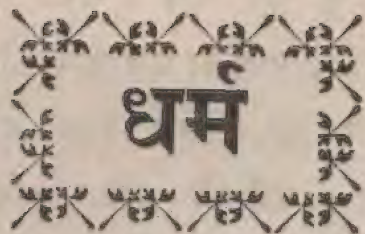
यह तथ्य आश्चर्यजनक है कि धर्म नाम का लोकप्रचलित शब्द जो मानव समुदाय में अत्यधिक चर्चित एवं व्यवहृत है ठीक-ठीक परिभाषित नहीं हुआ है। धर्म की परिभाषा को लेकर समाचार पत्र तथा पत्रिकाओं में काफी परिचर्चा पढ़ने को मिलती है। धर्म दर्शन की पुस्तकों में धर्म की व्याख्या एवं परिभाषा का विशद वर्णन पढ़ने को मिला। परन्तु सभी के अन्त में यह भी पढ़ने को मिला कि यह धर्म की पूर्ण परिभाषा नहीं है अर्थात् इन परिभाषाओं से धर्म की सही एवं पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं होती है।

"धर्म" शब्द का उद्भव वैदिक काल अथवा उससे भी पूर्व भारतीय ऋषियों द्वारा हुआ है। भारतीय अध्यात्म के धर्मशास्त्रों में धर्म की परिभाषा संक्षिप्त रूप से संस्कृत भाषा के सूत्र एव श्लोकों में अभिव्यक्त है। परन्तु यह जानकर आश्चर्य हुआ कि विश्व-विद्यालयों में पढ़ाई जाने वाली तथा अन्य दर्शन शास्त्रों की पुस्तकों में धर्म की जो परिभाषायें मिलती हैं, वे लगभग सभी विदेशी विद्वानों द्वारा परिभाषित हैं। धर्मशास्त्रों में ऋषियों द्वारा वर्णित संस्कृत के सूत्रों या श्लोकों को आधार बनाकर धर्म की परिभाषा नहीं की गई है और न ही इन पुस्तकों में किसी भारतीय ऋषि द्वारा धर्मशास्त्रों में दी गई परिभाषा ही देखने को मिली।

दर्शनशास्त्र के विद्वानों की मान्यता है कि धर्म की सही परिभाषा वही हो सकती है जो धर्म के सभी पक्षों को महत्ता प्रदान करती हो। ईश्वर, ज्ञान, भावना एवं कर्म की समष्टि ही धर्म है। इन चारों अंगों पर प्रकाश डालने वाली परिभाषा ही पूर्ण और सही कही जा सकती है। धर्म की अनेक परिभाषायें दी गई हैं। विश्व विख्यात जिन विद्वानों ने धर्म की परिभाषा लिखा है उसमें प्रमुख निम्नलिखित हैं —

1. हीगल—"अपूर्ण बुद्धि द्वारा अपने स्वरूप का पूर्ण बुद्धि के रूप में ज्ञान ही धर्म है"।

2. मैक्समूलर–"धर्म वह मानसिक शक्ति या प्रवृत्ति है जो मनुष्य को अनन्त सत्ता का ज्ञान प्राप्त करने में सक्षम सिद्ध होती है"।

3. प्रो० टायलर –"धर्म अध्यात्मिक सत्ताओं में विश्वास है"।

4. शिलियर मेकर –"ईश्वर पर पूर्ण रूप में निर्भर रहने की भावना में ही धर्म का सार निहित है"।

5. कांट—"हमारे दैनिक कर्तव्यों का ईश्वरीय आदेशों के रूप में अभिज्ञान ही धर्म है"।

6. मैथ्यू आरनॉल्ड—"संवेग सहित नैतिकता ही धर्म है"।

7. होफडिंग—"मूल्यों के संरक्षण में विश्वास ही धर्म है"।

8. व्हाइटहेड—"मनुष्य अपने एकाकीपन में जो कुछ भी करता है वही धर्म है"।

9. एम. सालोमन रेनिच – "धर्म निषेधों का संग्रह है जो हमारी शक्तियों के स्वतन्त्र विकास में बाधक है"।

ये सभी परिभाषायें दोषपूर्ण मानी गई हैं। इनमें ईश्वर, भावनात्मक, क्रियात्मक तथा ज्ञानात्मक सभी पक्षों की पूर्ति नहीं होती इसलिये ये सभी परिभाषायें अधूरी मानी जाती हैं।

अब उन परिभाषाओं का वर्णन कर रहे हैं जिन्हें संगत परिभाषा कहा गया है; ये निम्नलिखित हैं —

1. गैलवे – "अपने से परे शक्ति में मनुष्य का वह विश्वास धर्म है जिसके द्वारा वह अपनी संवेगात्मक आवश्यकताओं की संतुष्टि और जीवन की स्थिरता प्राप्त करता है तथा जिसे वह उपासना एवं सेवा के माध्यम से प्रकट करता है।

2. प्रो. फ्लिट— "धर्म मनुष्य का अपने से अधिक सत्ता या सत्ताओं जो इन्द्रिय अगोचर है परन्तु उसकी भावनाओं और कर्मों के प्रति उदासीन नहीं है, में आस्था से अद्भुत भावनायें एवं क्रियायें हैं"।

3. विलियम जेम्स— "धर्म का अर्थ व्यक्ति का वह एकान्तिक भाव क्रिया एवं अनुभव है जो व्यक्ति और ईश्वर के सम्बन्ध के ज्ञान से विकसित होते हैं"।

4. मार्टिन्यू – "धर्म शास्वत ईश्वर में विश्वास है"।

यद्यपि धर्म की चार उपर्युक्त परिभाषाओं को संगत परिभाषा की संज्ञा दी गई है परन्तु इनसे धर्म की पूर्ण एवं सही अभिव्यक्ति नहीं होती है।

भारत के भूतपूर्व राष्ट्रपति प्रसिद्ध दार्शनिक डा. राधाकृष्णन ने कहा है कि धर्म शब्द को अंग्रेजी भाषा में व्यक्त करना हो तो वह शब्द होगा "Duty" अर्थात् "कर्तव्य"।

प्रसिद्ध मनीषी डा. सम्पूर्णानन्द ने धर्म को परिभाषित करते हुए कहा है कि "धर्म उन सब कामों की समष्टि का नाम है जो कल्याणकारी है"।

कर्तव्य या कल्याणकारी कार्य उन लोगों द्वारा भी होता है जो पूर्णतया नास्तिक होते हैं अर्थात् ईश्वर की सत्ता को ही स्वीकार नहीं करते। कारखाना स्थापित करना, बांध बनाकर नहर निकालना तथा विद्युत उत्पादन करना आदि कार्य भी ऐसे हैं जो समाज के लिये आवश्यक है तथा कल्याणकारी कार्य है और जिन्हे करना समाज के लोगों का या व्यक्ति का कर्तव्य है। परन्तु जब हम धर्म की परिभाषा को समझना चाहते हैं तो पाते हैं कि धर्म उन्हीं कार्यों को कहा गया है जिसमें ईश्वर की सत्ता को स्वीकारते हुए धर्म परिभाषित किया गया हो। अतः केवल कर्तव्य या कल्याणकारी कर्तव्य ही धर्म को व्यक्त नहीं करते। यह परिभाषा भी अधूरी है।

धर्म शब्द का उद्भव वैदिक काल के भी पूर्व भारतीय अध्यात्म में भारतीय ऋषियों द्वारा हुआ है। भारतीय अध्यात्म का आधार ब्रह्मविद्या या योगविद्या है। ब्रह्मविद्या या योगविद्या से सभी धर्म-शास्त्र भरे पड़े हैं उनमें प्रमुख हैं गीता उपनिषद, योगशास्त्र, पतंजलि, योग वशिष्ठ, ज्ञान संकिलिनी, हठ प्रदीपिका, शिव संहिता आदि। इस तथ्य की पुष्टि गीता के प्रत्येक अध्याय के अन्त में लिखी इस पंक्ति से होती है कि "ॐ तत्सदिति श्री मद्‌भगवद्‌गीता

सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्री कृष्ण अर्जुन संवादे .... अध्यायः ।

धर्म को समझने के लिये सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक है कि ब्रह्मविद्या या योगविद्या से भरे इन धर्मशास्त्रों के रचयिता भारतीय ऋषियों के ज्ञान का आधार क्या है ? ऋषियों की जीवनी देखने से यह पता चलता है कि उनके जीवन में अध्ययन अध्यापन, पुस्तकों का विवरण जो अध्ययन का आधार रहा हो तथा गुरू का विवरण जिनसे कितने समय तक शिक्षण प्राप्त किया आदि तथ्य नहीं मिलते हैं ये अपने गुरू से ब्रह्मविद्या की दीक्षा प्राप्त करने के बाद एकान्तवास में रहकर ब्रह्मविद्या की योग साधना करते हुए ब्रह्म साक्षात्कार करने में सफल हुए हैं। ये सभी लोग अन्तर्यामी, दिव्य दृष्टि प्राप्त होते थे। ये अन्तर्यामी दिव्य दृष्टि प्राप्त ऋषि ही भारतीय धर्मशास्त्रों के रचयिता हैं।

लगभग १५० वर्ष पूर्व काशी में विश्व विख्यात महायोगी श्यामाचरण लाहिड़ी हुए थे। देश तथा विदेश में जिन्हें ज्यादातर लोग लाहिड़ी महाशय के नाम से जानते हैं। इनके पुत्र थे योगिराज तीन कौड़ी लाहिड़ी और पौत्र थे योगिराज सत्यचरण लाहिड़ी।

ये सभी लोग ब्राह्मी स्थिति अर्थात् ब्रह्म साक्षात्कार करने में सफल हुए थे तथा अन्तर्यामी एवं दिव्य दृष्टि प्राप्त थे। [इनकी जीवनी तथा ब्रह्मविद्या या योगविद्या का विज्ञान व सिद्धान्त जानने के लिए – पुस्तक पढ़े "योग एवं एक गृहस्थ योगी" लेखक—शिव नारायण लाल।

पूज्य गुरू देव योगिराज सत्यचरण लाहिड़ी जी ने एक बार

मेरे (लेखक) पूछने पर उन्होंने (अध्यात्मिक चर्चा के समय) धर्म को परिभाषित करते हुये बताया था कि "ब्रह्म साक्षात्कार कर लेना ही मनुष्य का धर्म है"। योगिराज तीन कौड़ी लाहिड़ी जी इसीको इस प्रकार कहते थे 'ब्रह्म में लय हो जाना ही मनुष्य का धर्म है'। महायोगी लाहिड़ी महाशय की भावना को ही इन लोगों ने अलग-अलग ढंग से व्यक्त किया है। इन दोनों का अर्थ एक ही है। धर्मशास्त्रों को देखने से यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारतीय ऋषियों ने भी इसी को धर्म कहा है। ऋषियों द्वारा कहे गये गूढ़ कथन को सत्यचरण जी ने संक्षेप में स्पष्ट करते हुए यह कहा है कि "ब्रह्म साक्षात्कार ही मनुष्य का धर्म है"। इसका वर्णन आगे किया जा रहा है।

धर्म के विषय में बिचार करने पर हम पाते हैं कि धर्म दो भागों विभाजित करते हुए परिभाषित किया गया है।

1. सहायक धर्म – मानवीय एवं नैतिक कर्तव्य।

2. सर्वश्रेष्ठ धर्म – मनुष्य जन्म का चरम कर्तव्य।

1. सहायक धर्म – मानवीय एवं नैतिक कर्तव्य –

विश्व ब्रह्मांड की समस्त गतिविधियाँ तथा उसका कण-कण एक निश्चित नियम से नियमित, नियन्त्रित एवं संचालित है। भौतिक जगत से परे जिस चेतन सत्ता द्वारा यह संचालित है उसे ब्रह्म या ईश्वर भी कहा गया है। अन्तर्यामी दिव्य दृष्टि प्राप्त प्राचीन ऋषियों ने पाया कि मनुष्य जब भी चेतनसत्ता या ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार कर श्रद्धा भक्ति के साथ अपने मन को उनमें लगाता है, प्रणाम करता है, या ध्यान करता है तो उसके भीतर

मानवीय एवं नैतिक गुण विकसित हो जाते हैं।

भारतीय ऋषियों ने इस प्रकार के सभी सैद्धान्तिक तथ्यों को कहानियों के माध्यम से धर्मशास्त्रों में व्यक्त किया है। यह तथ्य रामायण की एक कथा में व्यक्त हुआ है जो इस-प्रकार है–राम की पत्नी सीता जी का बनवास के समय अपहरण कर लंका ले आने के बाद लंका के राजा रावण ने उन्हें अपनी पत्नी बनाने के लिए हर सम्भव प्रयास किया, उन्हें फुसलाया डराया तथा धमकाया परन्तु सीता को वह वश में नहीं कर सका। रावण एक असाधारण मायावी था। वह रूप बदलने में दक्ष था। उसके एक मित्र ने सलाह दी कि वह राम का रूप धारण कर सीता को अपनाने की कोशिष करे। सीता उसे पहचान नहीं सकेगी और इस तरह वह आसानी से उसके साथ रहने लगेगी।

रावण ने कहा कि ऐसा करने का भी प्रयास मैंने किया था परन्तु इसमें सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि जिसका रूप धारण करने की आवश्यकता होती है उसका ध्यान करना पड़ता है। राम का रूप धारण करने के लिए पहले मुझे राम का ध्यान करना पड़ता है और जब मैं राम का ध्यान करता हूँ तो मेरे मन से यह भाव ही निकल जाता है कि मैं सीता के साथ कोई दुर्व्यवहार या अनैतिक कार्य करूँ।

तात्पर्य यह है कि मनुष्य मन से जब भी ईश्वर का ध्यान करेगा उसके भीतर मानवीय एवं नैतिक गुणों का विकास होगा तथा अमानवीय एवं अनैतिक सभी दुर्गुणों का नाश होगा। इसके साथ ही दूसरा सैद्धान्तिक तथ्य यह भी है कि व्यक्ति के भीतर जिस अनुपात में मानवीय तथा नैतिक गुण विकसित होता है उसी

अनुपात में वह ईश्वर साक्षात्कार या ब्रह्म साक्षात्कार के पथ पर अग्रसर हो जाता है। यही धर्म का प्रमुख सिद्धान्त है। ब्रह्म साक्षात्कार कर लेना ही धर्म है और ब्रह्म साक्षात्कार के लिये जो कर्म किये जाते हैं वे धार्मिक कृत्य कहलाते हैं। भारतीय ऋषि उन्हीं धार्मिक कृत्यों को सफल मानते हैं जिसमें व्यक्ति के भीतर मानवीय तथा नैतिक गुण विकसित होते हैं। यदि मानवीय एवं नैतिक गुण विकसित नहीं होते तो किया गया धार्मिक कृत्य ऋषियों की दृष्टि में यंत्रवत एवं निष्फल कृत्य है। कहानी के माध्यम से व्यास जी ने इसे महाभारत के आश्व-मेधिक पर्व में इस प्रकार व्यक्त किया है —

एक बार धर्मराज युधिष्ठिर ने महान अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न कराया। इस यज्ञ में श्रेष्ठ ब्राह्मण, दीन-दरिद्रों, अंधों, बन्धु-बान्धवों तथा अन्य सम्बन्धियों को भोजन तथा दान देकर सभी प्रकार से तृप्त किया। युधिष्ठिर के महान दान का चारो ओर शोर हो गया, उनके ऊपर फूलों की वर्षा होने लगी। इसी समय वहाँ एक नेवला आया उसने एक जोरदार गर्जना की और मनुष्य की भाषा में बोला राजन ! तुम्हारा यह यज्ञ कुरुक्षेत्र निवासी एक उंछवृत्तिधारी (खेत से दाना चुनकर उस पर जीवन निर्वाह करने वाले) उदार ब्राह्मण के सेर भर सत्तू दान करने के बराबर भी नहीं हुआ है।

नेवले की बात सुनकर समस्त ब्राह्मणों को बड़ा आश्चर्य हुआ। उन लोगों ने पूछा कि इस यज्ञ में बड़े-बड़े साधुओं विद्वान ब्राह्मणों का समागम हुआ है। यह यज्ञ सभी शास्त्रीय विधियों का पालन करते हुए पूर्ण किया गया है। फिर भी तुम यह आक्षेप किस आधार

पर कर रहे हो? तुम कौन हो ? और तुम्हारा शास्त्र-ज्ञान क्या है ?

नेवले ने हँसकर कहा, विप्रबिंद मैंने आप लोगों से मिथ्या अथवा घमंड में आकर कोई बात नहीं कही है। मैंने जो कहा है कि "आप लोगों का यह यज्ञ उदार ब्राह्मण के द्वारा किये गये सेर भर सत्तू - दान के बराबर भी नहीं है", इसका कारण बताता हूँ। कुरुक्षेत्र निवासी गरीब ब्राह्मण के सम्बन्ध में मैंने जो कुछ देखा और अनुभव किया वह बड़ा ही उत्तम एवं अद्भुत है। उस ब्राह्मण के द्वारा न्यायतः प्राप्त हुए थोड़े से अन्न का दान भी अत्यन्त उत्तम फल का साधक हुआ। वह घटना इस प्रकार है —

कुछ समय पहले की बात है कि धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में एक उंछवृत्तिधारी ब्राह्मण रहा करते थे। कबूतर के समान खेतों से दाना चुनकर लाते और उसी से परिवार का जीवन निर्वाह होता था। वे अपनी स्त्री, पुत्र और पुत्रबधू के साथ रहकर तपस्या में संलग्न थे। कुछ दिन से अन्न न मिलने के कारण उन्हें उपवास करना पड़ रहा था। इसी बीच एक दिन एक सेर जौ का अन्न मिल गया। ब्राह्मण का पूरा परिवार ही तपस्वी था। सभी भूख से व्याकुल थे। उस जौ का उन्होंने सत्तू बना लिया। परिवार के सदस्यों में उसे बराबर-बराबर सभी को बाँटकर भोजन के लिए बैठे। इतने ही में कोई अतिथि ब्राह्मण वहाँ आ पहुँचे। परिवार के सभी सदस्य अतिथि ब्राह्मण को देखकर बड़े प्रसन्न हुए और उनका अत्यधिक आदर सम्मान किया। भूख से व्याकुल रहने पर भी उदार ब्राह्मण ने उस अतिथि को अपने भाग का सत्तू भोजन करने के लिये आग्रह करके दे दिया।

उदार ब्राह्मण के आग्रह करने पर अतिथि ने सत्तू लेकर खा

लिया। उदार ब्राह्मण ने देखा कि अतिथि की भूख अभी शान्त नहीं हुई है। अतः वे चिन्ता करने लगे कि उन्हें किस प्रकार संतुष्ट करें। तभी उनकी पत्नी जो अत्यधिक वृद्ध तथा दुर्बल थी, भूख से स्वयं ब्याकुल होते हुए भी अपने भाग का सत्तू अतिथि को खाने को दे दिया। अतिथि ब्राह्मण ने उसे भी खा लिया। परन्तु इससे भी उनकी भूख शान्त नहीं हुई। उदार ब्राह्मण यह जानकर कि हमारे अतिथि की भूख अभी शान्त नहीं हुई है। अतः उनके लिए पुनः भोजन की चिन्ता करने लगे। तभी उनके पुत्र ने कहा, पिता जी, मेरे भाग का सत्तू अतिथि को दे दीजिये, इसी में मैं अपना पुण्य समझता हूँ। भूख से ब्याकुल पुत्र ने भी अपने भाग का सत्तू अतिथि को भोजन के लिए दे दिया। अतिथि ब्राह्मण ने उसे भी खा लिया परन्तु इससे भी उनकी भूख शान्त नहीं हुई। यह जानकर उदार ब्राह्मण उनके भोजन के लिये पुनः चिन्तित हुए कि अब इनके लिये भोजन की व्यवस्था कैसे करें। उनकी स्थिति देखकर स्वयं भूख से ब्याकुल होते हुए भी पुत्र-वधू ने अपने भाग का सत्तू अतिथि ब्राह्मण को भोजन के लिये दे दिया।

उदार ब्राह्मण परिवार का अद्भुत त्याग देखकर अतिथि ब्राह्मण बड़े प्रसन्न हुए। वास्तव में मनुष्य शरीर धारण करके साक्षात् धर्मराज ही अतिथि के रूप में उपस्थित हुए थे। वे प्रकट होकर बोले कि तुमने सेर भर सत्तू का दान करके अक्षय ब्रह्मलोक पर विजय पाई है, बहुत से अश्वमेघ यज्ञ भी तुम्हारे इस दान के फल की समानता नहीं कर सकते। तुम्हारे लिए यह दिव्य विमान उपस्थित है इसमें बैठकर सपरिवार ब्रह्मलोक को जाओ।

नेवले ने कहा — धर्मराज के ऐसा कहने पर उदार ब्राह्मण

अपनी स्त्री, पुत्र तथा पुत्र-वधू के साथ दिव्य विमान में बैठ कर ब्रह्मलोक को चले गये। उनके जाने के बाद मैं बिल के बाहर निकला और जहाँ अतिथि ने भोजन किया था उस स्थान पर लोटने लगा। उस समय सत्तू की गंध सूंघने, वहाँ गिरे हुए जल की कीच से सम्पर्क होने, दिव्य पुष्पों को रौंदने और उन महात्मा ब्राह्मण के दान करते समय गिरे हुए अन्न के कणों में मुंह लगाने से तथा ब्राह्मण की तपस्या के प्रभाव से मेरा मस्तक और आधा शरीर सोने का हो गया। शेष मेरा आधा शरीर भी सोने का हो जाय इसके लिये मैं बहुत से यज्ञस्थलों में गया। महाराज युधिष्ठिर के महान यज्ञ की भारी प्रशंसा सुनकर, बड़ी आशा लगाये मैं यहाँ आया था परन्तु मेरा शेष शरीर सोने का न हो सका। अतः यह यज्ञ उस उदार ब्राह्मण द्वारा सेर भर सत्तू के दान के बराबर भी सफल नहीं हुआ है। अत: उसके साथ इसकी कोई तुलना नहीं है। अन्त में कहा गया है कि किसी भी प्राणी से द्रोह न करना, सन्तोष शील, सरलता, तप, इन्द्रिय सयम, सत्य और दान—इनमें से एक एक गुण बड़े-बड़े यज्ञों की समानता करने वाला है।

निष्कर्ष यह निकलता है कि 'अत्यन्त विपन्न ब्राह्मण तथा उसके परिवार ने स्वय भूख से व्याकुल रहने के पश्चात् भी आये हुए अतिथि को अपना समस्त भोजन दे दिया और स्वयं भूखे रह गये" इस आतिथ्य सत्कार और दान कर्म में मानवीय तथा नैतिक मूल्य का जो उत्कर्ष झलकता है वह महराज युधिष्ठिर के यज्ञ में नहीं है। अर्थात् धार्मिक कृत्य वही सफल है जिसमें मानवीय एवं नैतिक मूल्य का उत्कर्ष होता है अगर यह उत्कर्ष नहीं हुआ तो वह निष्फल है। कर्म के साथ यह जिस अनुपात में विकसित होता है उसी अनुपात में वह सफल होता है, अर्थात् कर्म के साथ जिस

अनुपात में मानवता एवं नैतिकता विकसित होती है उसी अनुपात में व्यक्ति ब्रह्म साक्षात्कार में अग्रसर होता है।

उपर्युक्त उदाहरण से यह भी स्पष्ट होता है कि अध्यात्मिक सफलता मानवता एवं नैतिकता के विकास पर निर्भर है परन्तु मानवता या नैतिकता का विकास इस पर निर्भर नहीं है कि कर्म में कितना घी, हवन सामग्री तथा धन का उपयोग होता है और कितने ब्राह्मणों द्वारा कितने समय में यज्ञ कार्य किया जाता है। यह तो व्यक्ति के श्रद्धा भक्ति एवं समर्पण की भावना पर निर्भर होता है जो किसी भी समय, किसी भी क्षेत्र के एक गुण में उत्कर्ष की पराकाष्ठा में पहुँचने पर प्राप्त होता है। तब भगवान को किसी न किसी रूप में कृपा करना ही पड़ता है जैसा कि उदार ब्राह्मण के चरम त्याग पर वे स्वयं आये। उनका अर्थात् ब्रह्म साक्षात्कार कर लेना ही मनुष्य का चरम कर्तव्य है और यही धर्म है। धर्म की इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए मानवता एवं नैतिकता ही पहली सीढ़ी है या इस प्रकार भी कह सकते हैं कि यह वह ऊर्जा है जो मनुष्य को धर्म की अवस्था तक पहुँचाती है। इसके अभाव में धर्म की अवस्था प्राप्त कर लेने का विधाता ने कोई विधान नहीं दिया है।

भारतीय ऋषियों ने इसी आधार पर उन समस्त कार्यों को भी धर्म की संज्ञा प्रदान की है जिसमें मानवता एवं नैतिकता का उत्कर्ष होता है जैसे अहिंसा, सत्य, उपकार, दया, दान, कृतज्ञता आदि के क्षेत्र में उत्कर्ष पर पहुँचने की दशा में ये गुण विकसित होते हैं और ये गुण ब्रह्म साक्षात्कार तक पहुँचाने में सहायक हैं। अतः इनको भी धर्म कहा गया है, ये सहायक धर्म हैं।

सत्य ही परम धर्म है –

विश्व भर का धर्म तथा जनमानस इस तथ्य को स्वीकार करता है कि मनुष्य को सत्यभाषी होना चाहिये। परन्तु सत्य को धर्म के साथ जोड़ा (सम्बद्ध) नहीं किया गया है। इस सम्बन्ध में भारतीय ऋषियों की स्पष्ट मान्यता है कि "सत्य परम धर्म है" अर्थात् ईश्वर साक्षात्कार में यह परमसहायक है। भारतीय ऋषि इसकी घोषणा निश्चय पूर्वक करते हैं जैसे —

(अ) "सत्यान्नास्ति परो धर्म."
सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं है।

(ब) नास्ति सत्वात्परो धर्मो नानृतात्पातकर्म परम।
श्रुतिहि सत्य धर्मस्य तास्यात्सत्यं न लोप्यते ॥
(महाभारत - शान्तिपर्व)

सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं, असत्य से बड़ा कोई पाप नहीं। सत्य ही धर्म का आधार है। अतएव सत्य का परित्याग कभी भी नहीं करना चाहिए।

(स) "सत्य स्वर्गस्य सोपान पारावा रस्नोरिव"
(महाभारत – उद्योगपर्व)

समुद्र में नाव के समान सत्य स्वर्ग का सोपान है। अर्थात् जिस प्रकार नाव का सहारा व्यक्ति को समुद्र के बीच से पार कराकर किनारे पर पहुँचा देता है उसी प्रकार सत्य व्यक्ति को संसार से पार करा कर स्वर्ग पहुँचा देता है।

सत्य का पालन करने वाले राजा हरिश्चन्द्र का उदाहरण ले

रहे हैं जिनका नाम ही सत्यवान शब्द का पर्यायवाची हो गया है। प्रायः समाज में लोग सत्यवान शब्द का प्रयोग न कर राजा हरिश्चन्द्र के नाम का ही प्रयोग कर लेते हैं जिसका तात्पर्य ही सत्यवान मान लिया जाता है।

राजा हरिश्चन्द्र सतयुग में हुए थे। उनकी पत्नी का नाम शैब्या तथा पुत्र का नाम रोहिताश्व था। इनका राज काज बड़े सुख शान्ति से चल रहा था। प्रजा भी शान्त सुखी थी। पुराने समय में राजाओं द्वारा ब्राह्मणों को दान दिया जाता था। एक दिन स्वप्न में इन्होंने एक तेजस्वी ब्राह्मण को अपना राज दान में दे दिया। दूसरे दिन वही तेजस्वी ब्राह्मण विश्वामित्र, राजा हरिश्चन्द्र के दरबार में पहुंचे और राजा हरिश्चन्द्र से दक्षिणा मांगी। राजा ने जब राजकोष से देना चाहा तो क्रोधित मुद्रा में विश्वामित्र ने कहा कि यह पूरा राज तुम मुझे दान दे चुके हो अतः अब राजकोष भी हमारा है, उसमें से दक्षिणा देने का अधिकार तुम्हारा कहाँ रहा। दान देकर दक्षिणा नहीं देना चाहते हो, स्पष्ट कह दो कि मैं नहीं दूंगा।

हरिश्चन्द्र बड़े दुःखी हुये। अपने दिये हुए बचन को वे पूरा करना चाहते थे। उन्होंने विश्वामित्र से कहा कि मैं अपना पूरा राज आपको दे चुका हूँ मेरे पास कुछ है नहीं, इसके लिए मुझे कुछ समय दें ताकि मैं इसका प्रबन्ध कर सकूँ। विश्वामित्र ने उन्हें एक निश्चित समय के अन्दर दक्षिणा देने को कहा। हरिश्चन्द्र वहाँ से अपना राज छोड़कर जब जाने लगे तो उनके मन्त्रियों ने दक्षिणा के लिये अपने पास से धन देने को कहा परन्तु यह कह कर कि इस राज का दान कर चुका हूँ अतः यहाँ का कुछ भी नहीं ले सकता और वे वहाँ से चले गये परन्तु राज्य से एक कौड़ी भी नहीं लिया।

काशी नगरी पृथ्वी से अलग मानी जाती है। वे काशी चले आगे। दक्षिणा के लिये धन जुटाना सम्भव नहीं हुआ अतः उन्होंने रानी और पुत्र को एक धनी व्यक्ति को बेच दिया और स्वतः को श्मशान पर डोम को बेचकर समय से दक्षिणा चुका दी।

रानी शैव्या जिसके आगे पीछे दर्जनों दास-दासियाँ सेवा में लगे रहते थे वह बरतन मांजने, चौका धोने, झाड़ू लगाने का काम करने लगीं। इसी प्रकार हरिश्चन्द्र राजा होकर भी रात-रात भर जागकर श्मशान पर पहरा देते और मुर्दा जलाने के लिये आने वालों से कर लेते तथा ठीक-ठीक हिसाब डोम को देते रहे।

रानी शैव्या को यह पता नहीं था कि हरिश्चन्द्र श्मशान पर नौकर का कार्य कर रहें हैं। दुर्भाग्यवश एकदिन पुत्र रोहिताश्व को सर्प ने काट लिया और उसकी मृत्यु हो गई। रोहिताश्व के शव लेकर शैव्या श्मशान पर गई। हरिश्चन्द्र ने नियमानुसार श्मशान का कर मांगा। शैव्या के पास कुछ नहीं था, वे रो पड़ीं और अनुनय विनय करने लगीं। शैव्या और हरिश्चन्द्र की सूरत ऐसी हो गई थी कि वे एक दूसरे को पहचान नहीं सके। बात-चीत से वे एक दूसरे को पहचान गये। हरिश्चन्द्र भी यह जानकर कि यह उन्हीं के पुत्र रोहिताश्व का शव है, विलख पड़े। परन्तु अपने मालिक का श्मशान कर छोड़ने को तैयार नहीं हुए। परिस्थिति को देखकर उन्होंने शैव्या से कहा कि तुम पहनी हुई साड़ी का आधा भाग कर के रूप में दे दो उसी से काम चल जायेगा। विवश होकर शैव्या ने अपनी लज्जा रखते हुए जैसे ही साड़ी का आधा भाग फाड़ना आरम्भ किया कि आकाश में गर्जन हुआ और विश्वामित्र प्रकट हो गये। रोहिताश्व भी जी उठा।

विश्वामित्र ने हरिश्चन्द्र को आशीर्वाद देते हुए कहा यह सब तुम्हारी परीक्षा हो रही थी कि तुम किस समय तक सत्य तथा धर्म का पालन करते हो। उन्हें पूर्ण राज्य ज्यों का त्यों मिल गया। अपने परिवार स्त्री तथा पुत्र के साथ सुख से रहने लगे।

सत्य का परिपालन करने में जिन घोर कठिनाइयों को झेलनें की पराकाष्ठा तक वे पहुँच गये उसमें ईश्वर की उनपर बड़ी कृपा हुई और उनका ईश्वर या ब्रह्म साक्षात्कार का मार्ग भी प्रशस्त हो गया। वे बिशेष विमान से स्वर्ग को गये।

इस प्रकार देखा गया है कि सत्य का परिपालन करने में जिस मानवता एवं नैतिकता का उत्कर्ष व्यक्ति के भीतर होता है वह भी उसे ब्रह्म साक्षात्कार तक ले जाने में सहायक है अर्थात् (वह भी धर्म के समान है) वह सहायक धर्म है। इसीलिये भारतीय ऋषियों ने कहा है कि "सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं है"।

कृतज्ञता-

समाज में कुछ लोग किसी के द्वारा अपने ऊपर किये गये उपकार को स्वीकारते हैं और कुछ बिल्कुल ही नहीं स्वीकारते। किसी के द्वारा अपने लिए किये गए उथकार को स्वीकारना ही कृतज्ञता कहलाता है। कृतज्ञता को स्वीकार करना मनुष्य के भीतर नैतिक उत्कर्ष का सूचक है।

हम यहाँ एक उदाहरण ले रहे हैं जो काशी के एक नागरिक हरिशंकर जी का है। यह घटना लगभग १९३० की है। ये एक धनी व्थवसायिक परिवार के धार्मिक व्यक्ति थे। उस समय दो

घोड़ों की बग्घी और गंगा में अपना बजड़ा होना सम्पन्नता का सूचक था। काशी में गंगा के उस पार रामनगर में उनके अपने दो तीन बड़े बाग थे। वे वहाँ प्रायः जाया करते थे।

एक दिन माह जून में लगभग चार बजे रामनगर जाने के लिए वे नाव से गंगा पार उतरे और रामनगर की ओर जाने लगे। थोड़ा भी नहीं चल सके उन्हें रूक जाना पड़ा। जूता बहुत कम पहनते थे, वे नंगे पांव थे और बालू की रेती लगभग एक किलो मीटर पार करके रामनगर जाना पड़ता था। जून माह की तपतीं दुपहरी में बालू तपकर लाल थी। नंगे पांव जाना सम्भव नहीं हुआ। जाना भी आवश्यक था। बहुत देर तक सोचते रहे कि क्या करें तभी उन्हें एक जोड़ा फटा हुआ जूता दिखाई पड़ा जिसके निचले भाग का केवल तल्ला ही था। आस-पास से खोज कर रस्सी का उन्होंने प्रबन्ध किया और जूते के तल्ले को पैर के तलुये बांध लिया। उसी के सहारे धीरे-धीरे कर उस पार पहुँच गये। वहाँ जूते के तल्ले को छोड़कर अपने बाग चले गये। लगभग दो घंटे पश्चात् वे वहाँ से वापस लौटकर चलने लगे। बालू की रेती लगभग ठंडी हो गई थी उसमें आराम से चलने लगे। थोड़ा दूर बढ़ते ही उन्हें ख्याल आया कि इसमे पूर्व तपती बालू को कैसे उन्होंने पार किया था। इसी समय मन में यह भाव भी आया कि उस फटे जूते के सहारे ही यह बालू की रेती मैं पार कर सका था और काम निकलने के बाद मैंने उसे फेंक दिया। मैं कितना स्वार्थी हो गया हूँ। मुझे कम से कम इतना तो करना ही चाहिए कि जिस स्थान से जूता उठाया था उसी स्थान पर मैं उसे रख दूँ। उसका इतना सम्मान तो कर दूँ। ऐसा विचार करके वे वापस लौटकर उस स्थान पर आये जहाँ उन्होंने जूते का तल्ला छोड़ा

था। परन्तु अब एक दूसरी समस्या खड़ी हो गई कि जूते को लेकर वापस कैसे लौटें। हरिशंकर जी उस समय के काशी के एक प्रतिष्ठित नागरिक थे। उस तरफ से आने जाने वाले सभी उन्हें पहचानते थे और प्रणाम करते थे। ऐसी परिस्थिति में हाथ में दो फटे जूते लेकर चलना बड़ा हास्यास्पद था। रास्ते में आने जाने वाले प्रणाम करके यदि यह पूछते कि "आदरणीय महोदय, आपके हाथ में यह क्या है और इसका प्रयोजन क्या है"? अतः कुछ देर तक विचार करने के उपरान्त उन्हें एक उपाय सूझा। काशी के नागरिकों में उस समय एक प्रचलन था और आज भी पुराने नागरिकों में पाया जाता है कि कन्धे पर एक गमछा रखकर लोग चलते हैं। हरिशंकर जी के कन्धे पर भी गमछा था। उन्होंने उस फटे दोनों जूतों को सिर पर रखकर, उसके ऊपर गमछे को साफानुमा बनाकर सिर को ढक लिया। और वहाँ से बालू की रेती को पार उस स्थान पर आये जहाँ से जूते को उठाया था। जब उन्होंने देखा कि उनकी तरफ किसी की दृष्टि नहीं है तब जूते को सिर से उतार कर वहीं रख दिया और प्रणाम कर चले आये।

हरिशंकर जी को धर्मशास्त्रों का अच्छा ज्ञान था। ब्रह्मविद्या के विषय में जानकारी होने के बाद इनको ब्रह्मविद्या में दीक्षा प्राप्त करने की बड़ी अभिलाषा थी। काफी दिनों तक अपनी खोज व प्रयास के बाद भी इन्हें सफलता नहीं मिली तो ये एक दिन रो पड़े। अकस्मात् इन्हें लाहिड़ी महाशय का दर्शन हुआ और निर्देश भी कि तुम सत्यचरण (लाहिड़ी महाशय के पौत्र) के पास जाओ। सत्यचरण जी ने उस समय तक दीक्षा देना प्रारम्भ नहीं किया था। हरिशंकर जी इनके पास पहुँचे। सत्यचरण जी को उनके आने का पूर्व में ही आभास हो चुका था। उनके आने पर अन्य तथ्यों से

अवगत होकर सत्यचरण जी ने इन्हें ब्रह्मविद्या की दीक्षा दी। सन् १९३४ में इन्हें दीक्षा मिली थी और ये सत्यचरण जी के प्रथम शिष्य हुए थे। ये ब्रह्म विद्या की साधना में तेजी से अग्रसर हुए और उच्च अवस्था प्राप्त करने में सफल हुए थे।

जड़ तत्व जूता के प्रति भी अपनी कृतज्ञता व्यक्त करना इसका प्रमाण है कि हरिशंकर जी में मानवता तथा नैतिकता पराकाष्ठा पर थी और यही उनकी आध्यात्मिक सफलता का कारण बनी। उन्हें ब्रह्मविद्या में दीक्षा मिली और साधना की उच्च अवस्था प्राप्त करने में सफल हुए।

इसीलिए भारतीय ऋषियों ने उन समस्त कर्मों को जिनमें मानवता और नैतिकता के गुण विकसित होते हैं उनको धर्म की की संज्ञा प्रदान की है।

समर्पण –

एक वृद्ध द्वारा श्रद्धा भक्ति के साथ देवस्थान में किये गये आत्माहुति का एक उदाहरण ले रहें हैं जो इस प्रकार है –

यह धार्मिक मान्यता है कि काशी तीनों लोकों से न्यारी है। इसमें निवास करते हुए निधन होने पर मोक्ष प्राप्त होता है। बंगाल के एक बूढ़े व्यक्ति की उम्र लगभग ८० (अस्सी) वर्ष थी। वृद्ध व्यक्ति की इच्छा हुई कि उनका निधन काशी निवास करते हुए काशी में ही हो। इस इच्छा के साथ वे काशी निवास करने आये। उनके रहने की व्यवस्था ठीक से हो जाय इसके लिये उनके साथ दो लोग और आये। दिन में पहुँचकर उनके

रहने के लिये एक कमरा लेकर व्यवस्था कर दी गई। सब कुछ ठीक ठाक रहा। रात्रि लगभग १२ (बारह) बजे वे कराहने लगे। साथ आये लोगों ने पूछा कि आपको क्या कष्ट है? पहले तो वे चुप रहे। परन्तु उनके लगातार कराहने के कारण लोगों ने जोर देकर पूछा कि क्या कष्ट है बताइये तो? तब उन्होंने बताया कि मल-मूत्र त्याग न करने के कारण वेदना हो रही है। लोगों ने कहा कि शौचालय बगल में है चलकर मल-मूत्र त्याग कर लीजिये। वे बोले कि काशी में मैं अपना प्राण त्याग करने आया हूँ। यह मेरे जीवन की सबसे बड़ी अभिलाषा रही है कि बाबा विश्वनाथ की नगरी काशी में मेरा निधन हो। जीवन की अन्तिम घड़ी में यहाँ आकर काशी में मैं मल-मूत्र त्याग नहीं करूँगा। लोगों के काफी कहने समझाने के बाद भी उन्होंने मल-मूत्र त्याग नहीं किया। निधन के कुछ क्षण पूर्व ऐसा देखा गया कि उन्होंने आँख मूंदे ही दोनों हाथ जोड़कर उठने का प्रयास किया। ऐसा अनुमान किया गया कि उन्हें पराशक्ति (ईश्वर) का किसी रूप में दर्शन हुआ। श्रद्धापूर्ण समर्पण की पराकाष्ठा में पहुँचने पर ईश्वर के किसी रूप में कृपा या दर्शन की संभावना रहती है। ऐसा प्रतीत हुआ कि इन वृद्ध महोदय के साथ कुछ ऐसा ही हुआ।

मानवता तथा नैतिकता से परिपूर्ण होने पर ही ऐसी उच्च-कोटि की श्रद्धापूर्ण समर्पण की भावना विकसित होती है।

उपर्युक्त दान, सत्य, कृतज्ञता तथा समर्पण के क्षेत्रों में जिस प्रकार कहानियों का उदाहरण दिया गया है उसी प्रकार सत्य, अहिंसा, परोपकार, दया दान, क्षमा, शान्ति .... आदि को भारतीय धर्मशास्त्रों में कहानियों के उदाहरण देकर इनको भी

धर्म कहा गया है। सूत्र और दोहों में भी इसे व्यक्त किया गया है जैसे --

अहिंसा–

[१] "अहिंसा परमो धर्मः"

अहिंसा अर्थात् किसी जीव की हत्या, किसी को भी कष्ट न न पहुँचाना ही परम धर्म है।

[२] परोपकार

(अ) "उपकारः परमो धर्मः"
उपकार सबसे बड़ा धर्म है।

(ब) परहित सरसि धरम नहि भाई।
परपीड़ा सम नहि अधमाई।।
(तुलसीदास)

दूसरों का उपकार करना जैसा कोई धर्म नहीं है और दूसरों को दुःख देने जैसा कोई अधर्म नहीं है।

[३] आचारः प्रथमो धर्मः
(आचार) अच्छा आचरण ही मनुष्य का पहला धर्म है।

[४] 'एतावान् पौरुषो धर्मो यदार्तानिनुकम्पते'
मनुष्य का यही सबसे बड़ा धर्म है कि वह आर्त लोगों पर अनुकम्पा करें, कृपा करें।

[५] धर्मः सत्यदयोपेतः
जिसमें सत्य और दया हो वही धर्म है।

इसी प्रकार नैतिक एवं समयोचित कर्तव्यों को धर्म की संज्ञा प्रदान की गई है जैसे—

1. मातृ धर्म
2. पितृ धर्म
3. स्त्री धर्म
4. पति धर्म
5. पुत्र धर्म
6. गुरु धर्म
7. छात्र धर्म
8. अतिथि धर्म
9. शरणागत धर्म

इत्यादि

व्यक्ति का कल्याण समाज कल्याण से अलग नहीं है। व्यक्ति का जीवन पग पग पर समाज के साथ बँधा हुआ है उसके बहुत से भोग और सुख हैं जो समाज में ही प्राप्त हो सकते हैं। उसके कर्तव्यों का फैलाव पितरों से लेकर वंशजों तक है। हमारे समाज में मनुष्य ही नहीं देव भी हैं और पशु पक्षी भी। इन सब के प्रति भी हमारा कर्तव्य है। अतः समाज को ध्यान में रखकर उपयुक्त अवसर पर उन समस्त आवश्यक मानवीय एवं नैतिक कर्तव्यों को भी धर्म कहा गया है। इस प्रकार मनुष्य के जीवन में हजारों कर्तव्य उपस्थित होते हैं। इसी के अनुसार हमारे यहाँ जाति धर्म, वर्ण धर्म, आश्रम धर्म, देश धर्म, राज धर्म, काल धर्म तथा आपद धर्म आदि के उल्लेख मिलते हैं।

भारतीय ऋषियों ने धर्म शास्त्रों के माध्यम से जो विचार दिये हैं उससे यह स्पष्ट होता है कि जीवन में समय समय पर उपस्थित होने वाले कर्तव्यों की उपेक्षा किये जाने वाले व्यक्ति द्वारा सर्वश्रेष्ठ धर्म तक पहुंचना सम्भव नहीं है। यही कारण है कि जीवन के समस्त कर्तव्यों (धर्मों) की चर्चा यह दर्शाते हुए की गई है मनुष्य द्वारा यह अवश्य पूर्ण किया जाना चाहिये। मानवीय तथा नैतिक

कर्तव्यों अर्थात् धर्मों के परिपालन होने पर ही सर्वश्रेष्ठ धर्म तक जाने का मार्ग प्रशस्त होता है। यही कारण है कि इन कर्तव्यों को धर्म की संज्ञा प्रदान की गई है।

भारतीय ऋषि परम्परा में कर्तव्यों के निर्वाह की उपेक्षा को स्वीकार नहीं किया जाता और न ही अच्छी दृष्टि से देखा जाता है। हम यहाँ एक उदाहरण ले रहे हैं योगिराज सत्यचरण लाहिड़ी जी का, जिन्होंने अपने शिष्य द्वारा मानवीय एवं नैतिक कर्तव्यों की उपेक्षा करने पर इतना नाराज हुए कि उसे अपने यहाँ आने से मना कर दिये। वह घटना इस प्रकार है —

एक युवक थे जो दो वर्ष पूर्व ही इंजीनियरिंग की पढ़ाई उत्तीर्ण होकर सरकारी विभाग में इंजीनियर के पद पर नियुक्त हो चुके थे। परिवार में केवल माँ थी जिन्होंने प्रतिपालन कर शिक्षा दीक्षा पूर्ण कराई थी। इंजीनियर बड़े अध्यात्मिक प्रवृत्ति के थे। उन्होंने सत्यचरण जी से योग की दीक्षा ली और योग साधना में लगे रहे। प्रायः आया करते थे। कभी-कभी कहा करते थे कि मैं शादी नहीं करूँगा, सन्यास ले लूंगा। सत्यचरण जी ने पितामह लाहिड़ी महाशय का आदर्श तथा गृहस्थ आश्रम में रहकर साधना करने से सम्बन्धित आवश्यक तथ्यों को समझा दिया। वे समझ रहे थे कि यह अभी भावुकता में कह रहा है धीरे-धीरे समझ जायेगा। परन्तु एक दिन युवा इंजीनियर अचानक सन्यासी के वेश में आकर उपस्थित हो गये और प्रसन्नता से बोले कि गुरूजी मैंने नौकरी छोड़ दी है और अपना जीवन भगवान को पूर्णरूप से समर्पित कर देने के लिये सन्यास ले लिया है। अब जीवन भर सम्पूर्ण समय भगवान की आराधना किया करूँगा। युवा इंजीनियर की बात सुनकर सत्यचरण जी स्तब्ध रह गये क्योंकि उन्होंने कभी

ऐसा करने के पक्ष में परामर्श दिया नहीं था और शिष्य होने के नाते इनको भी ऐसा करने पूर्व उनका परामर्श अवश्य लेना चाहिये था परन्तु ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। उन्होंने युवा इंजीनियर से पूछा कि तुम्हारी माता जी का जीवन यापन कैसे होगा। प्रत्युत्तर में युवा इंजीनीयर ने कहा कि वे अकेली हैं कहीं भी किसी रिश्तेदार के साथ रहकर जीवन यापन कर लेंगी। यह सुनकर सत्यचरण जी काफी नाराज हुए और बोले कि जिस माँ ने बड़ी-बड़ी कठिनाइयों और संकटों को झेलते हुए तुम्हें पढ़ाया, तुम्हें इस योग्य बनाया, इस आशा से कि बृद्धावस्था में तुम सहारा बनोगे। उन्हें तुमने इस बृद्धावस्था में अकेला छोड़ दिया। क्या उनके प्रति तुम्हारा कोई कर्तव्य नहीं था? वे अत्यन्त दुःखी हुए और क्षुब्ध भी। कुछ क्षण मौन रहकर गम्भीर स्वर में बोले, अब तुम जा सकते हो और फिर कभी मेरे पास मत आना। वह युवा इंजीनीयर फिर कभी सत्यलोक नहीं आये।

योगिराज सत्यचरण जी ब्रह्म विद्या की दीक्षा देते समय शिष्यों (पति एवं पत्नी) पुरुष तथा स्त्री दोनों को यह कड़ा निर्देश देते थे कि कर्तव्यों की उपेक्षा नहीं होना चाहिये।

धर्म की गति बड़ी सूक्ष्म है—

मानवता तथा नैतिकता को ध्यान में रखते हुए ही महाभारत में कहा गया है कि "धर्म की गति बड़ी सूक्ष्म है"। उसके अनेकों भेद तथा अनेकों शाखायें हैं। वेद में सत्य को धर्म तथा असत्य को अधर्म बताया गया है परन्तु यदि किसी के प्राणों का संकट उपस्थित हो और असत्य भाषण से उसके प्राण बच जाते हों तो उस अवसर पर असत्य बोलना धर्म हो जाता है। वहाँ असत्य से

ही सत्य का काम निकलता है। ऐसे समय में सत्य बोलने से असत्य का ही फल होता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जिसके परिणाम में प्राणियों का अत्यन्त हित होता हो वह ऊपर से असत्य दीखने पर भी वास्तव में सत्य है। इसके विपरीत जिससे किसी का अहित होता हो, दूसरों के प्राण जाते हों वह देखने में सत्य होने पर भी वास्तव में असत्य एवं अधर्म है।

किसी भी जीव की हत्या करना अधर्म है और आत्म हत्या करना उससे भी बड़ा अधर्म है। परन्तु परिस्थिति विशेष में यह धर्म हो जाता है। दूसरों की जान बचाने लिये यदि किसी की हत्या या आत्म-हत्या भी करना पड़ता है तो वह अधर्म नहीं धर्म है। मैं इसका एक उदाहरण ले रहा हूँ जो इस प्रकार है—

हजारों पुरुषों, स्त्रियों तथा बच्चों से लदी रेलगाड़ी पूरी रफ्तार (तीव्र गति) से जा रही थी। उस रेलगाड़ी को उलटने के लिए, शत्रु देश से मिला हुआ पैसों का लोभी देशद्रोही रेल की पटरी उखाड़ने में लगा था। कर्तव्यों के प्रति जागरूक एक देश प्रेमी ने यह देखकर उसकी तरफ बन्दूक की नली करके जोरदार आवाज में बोला "रुक जाओ अन्यथा गोली मार दूंगा"। देशद्रोही के ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा, वह रूका नहीं और रेल पटरी उखाड़ने में लगा रहा। रेल पटरी किसी भी क्षण उखड़ सकती थी और ट्रेन का आगमन भी निकट था। अन्तिम क्षण तक देशद्रोही को रेल पटरी उखाड़ने से रोकने का प्रयास देशप्रेमी ने किया परन्तु न रूकने पर अन्त में वह उस पर गोली चला देता है और उसकी मृत्यु हो जाती है। तीव्र गति से दौड़ती ट्रेन गुजर जाती है। इस प्रकार हजारों लोगों की जानें बच जाती हैं। यदि देश प्रेमी देशद्रोही को गोली न मार दिया होता और वह रेल पटरी उखाड़

देता तो हजारों स्त्रियों, पुरुषों तथा बच्चों को लाशें बिखर जाती। इनकी जान बचाने के लिये जो हत्या उस देश प्रेमी द्वारा किया गया वह अधर्म नहीं धर्म था।

इसी प्रकार आत्म हत्या का उदाहरण ले रहा हूँ। जानबूझ कर मृत्यु को वरण करना आत्महत्या है। युद्धकाल में अपने देश की ओर तीव्रगति से बेरोक टोक शत्रुओं के टैंक बढ़ रहे थे। लाख प्रयास के बाद भी उन्हें रोकना सम्भव नहीं हो रहा था। देश के कुछ परमबीर सैनिकों ने अपने सीने में बम बाँधकर टैंक के नीचे घुसकर बिस्फोट कर दिया जिससे टैंक ध्वस्त हो गये और उसके साथ उन सैनिकों के शरीर के भी चिथड़े उड़ गये। अपनी जान देकर भी उन्होंने अपने देश को बचाया।

सीने में बम बाँधकर घुसने के पूर्व वे जानते थे कि इसमें मेरी मौत सुनिश्चित है तब भी उन्होंने ऐसा किया अपने देश के करोड़ों लोगों को बचाने के लिये। ऐसा करके उन्होंने जानबूझ कर मृत्यु को वरण किया था अर्थात् यह आत्म हत्या थी। परन्तु यह आत्महत्या अधर्म नहीं धर्म था।

धर्म की सूक्ष्म गति से भारतीय ऋषियों का तात्पर्य है कि धर्म या अधर्म कर्म पर निर्भर नहीं है। वाह्यरुप में अधर्म जैसा दिखाई पड़ने वाला कर्म भी धर्म हो सकता है। हत्या तथा आत्महत्या जैसा कर्म भी अधर्म न होकर धर्म हो सकता है। जिस कर्म से मनुष्य में मानवता तथा नैतिकता का उत्कर्ष झलकता हो वह अधर्म जैसा दिखाई पड़ने पर भी अधर्म नहीं धर्म है।

सर्वश्रेष्ठ धर्म—

सर्वश्रेष्ठ धर्म अथवा मनुष्य जन्म का सर्वश्रेष्ठ धर्म है ब्रह्म साक्षात्कार। ब्रह्म साक्षात्कार को समझने के लिये निम्न तथ्यों को जानने की आवश्यकता है।

१. ब्रह्म साक्षात्कार का अभिप्राय क्या है ?

२. ब्रह्म विद्या के सिद्धान्त क्या हैं जिससे ब्रह्म साक्षात्कार होता है।

(१) ब्रह्म साक्षात्कार का अभिप्राय—

इस विशाल अन्तरिक्ष में पृथ्वी की स्थिति समुद्र में एक बूंद के समान है। हमारी पृथ्वी जिस आकाश गंगा में रहती है उसकी लंबाई चौड़ाई इतनी है कि यदि आधुनिक युग के तीव्रतम विमान या राकेट से आर-पार जाना हो तब भी अरबों वर्ष लगेंगे और हमारी आकाश गंगा जैसी अनन्त आकाश गंगायें इस विशाल ब्रह्मांड में है अर्थात् इस विशाल ब्रह्मांड में हमारी पृथ्वी की स्थिति महासागर में एक बूंद के भी बराबर नहीं है।

इसी प्रकार अरबों-खरबों वर्ष के बीच मनुष्य का जन्म मात्र लगभग सौ वर्ष का होता है। इस विशाल अन्तरिक्ष में पृथ्वी पर अनगिनत जीवों के बीच मात्र लगभग सौ वर्ष के लिये जन्मे इस मनुष्य का क्या कोई चरम लक्ष्य है। यह चरम लक्ष्य प्राप्त करना ही मनुष्य जन्म का चरम कर्तव्य है और यही मनुष्य का धर्म है। गीता में भी श्रीकृष्ण ने कहा है—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्त मध्यानि भारत।
अव्यक्त निधनान्येव तत्र का परिदेवना।।
गीता—२।२८

भावार्थ—सभी प्राणी जन्म से पूर्व अव्यक्त रहते हैं। और निधन के पश्चात् पुनः अव्यक्त हो जाते हैं केवल मध्य में ही व्यक्त रहते हैं फिर इसमें शोक का क्या कारण है।

मनुष्य अपने जन्म के पूर्व करोड़ों वर्ष या अनन्त काल के समय को नहीं जानता अर्थात् वह यह नहीं जानता कि इसके पूर्व वह कहाँ था तथा उसका स्वरूप क्या था, सब कुछ अव्यक्त था। वह तो केवल अपने इस जन्मकाल अर्थात् लगभग सौ वर्ष की अवधि से ही अवगत रहता है। निधन के पश्चात् पुनः अनन्त काल में क्या होगा इससे वह पूरी तरह अनभिज्ञ रहता है। अतः इस जन्म की भौतिक सुख-दुःख लाभ-हानि में पड़ने की क्या जरूरत है। इसको इतना महत्व न दिया जाय कि चरम लक्ष्य प्राप्त करने का प्रयास ही छूट जाय।

मनुष्य को चाहिये कि वह अपने जन्म से पूर्व और निधन पश्चात् के अव्यक्त स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर ले अर्थात् भौतिक जगत से परे उस चेतन सत्ता या ईश्वर या ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर ले जिसके द्वारा यह विशाल ब्रह्मांड नियमित नियन्त्रित एवं संचालित है। इस ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लेना ही ब्रह्म साक्षात्कार कहलाता है। प्राचीन काल में किसी समय धरती पर अति विकसित मानव की उच्च सभ्यता ने चेतन सत्ता अर्थात् ब्रह्म साक्षात्कार कर लेने में सफलता प्राप्त कर लिया था। ब्रह्म साक्षात्कार कर लेने की वैज्ञानिक विधि का भी उन्होंने विकास कर लिया था जिसे ब्रह्म विद्या या योग विद्या कहते हैं। इस विद्या से भारतीय धर्मशास्त्र भरे पड़े हैं।

भारतीय ऋषियों का कथन है कि जीवन की यात्रा पूरी करने के लिये जो आवश्यक कर्म है उसे नैतिकता के साथ पूरा किया जाना चाहिये जैसे अर्थ का उपार्जन, सामाजिक व अन्य दैनिक कर्तव्य आदि। इस प्रकार के निर्देश धर्मशास्त्रों में दिये हुए हैं तथा कहानियों के माध्यम से भी व्यक्त हैं। गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन से इस प्रकार कहा है—

नियतं कुरू कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीर यात्रापि च ते न प्रसिध्येद् कर्मणः॥

गीता—३/८

जीवन की यात्रा के लिये जो व्यवहारिक नियत कर्म हैं उन्हें तुम अनासक्त होकर करो। क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है। कर्म न करने से शरीर यात्रा अर्थात् जीवन यात्रा का निर्वाह भी पूरा नहीं होगा।

ऋषियों का तात्पर्य है कि मनुष्य जन्म का लक्ष्य है अपने अव्यक्त (जन्म के पूर्व व निधन के बाद) स्वरूप को जान लेना और इसे ही वे चरम कर्तव्य मानते हैं। जीवन की यात्रा पूरी करने के लिये जो भौतिक आवश्यकतायें हैं, उन्हें निष्काम भाव से करते रहना चाहिये। भौतिक सुख एवं आवश्यकताओं की पूर्ति में आसक्त होकर डूबना नहीं चाहिये बल्कि उन आवश्यक कार्यों को निश्चित रूप से करना चाहिये परन्तु अनासक्त होकर। अनासक्त से ऋषियों का तात्पर्य क्या है इसका हम एक उदाहरण ले रहे हैं जो इस प्रकार है—

कुछ छात्रों को परीक्षा देने के लिये दस किलोमीटर दूर परीक्षा स्थल पर जाना है। आधे घंटे की बस यात्रा है। सभी छात्र बस में चढ़कर परीक्षा देने के लिये जाते हैं। बस में भीड़ अत्यधिक होने के कारण कुछ को बैठने की जगह मिल जाती है, कुछ खड़े-खड़े जाते हैं और कुछ को दरवाजे पर लटक कर ही जाना पड़ता है। बस की हालत काफी खराब है, सीट की गद्दियाँ फटी हैं, खिड़कियों के शीशे टूटे हैं परन्तु कोई भी छात्र इस ओर ध्यान नहीं देता है। कोई भी छात्र बस रोककर अथवा बस के रूकने पर बस की मरम्मत कराने का प्रयास नहीं करता तथा ऐसा भी नहीं करता कि बैठने की जगह न मिलने पर न गये हों। छात्रों का लक्ष्य है परीक्षा स्थल पर पहुंचना कुछ छात्र खड़े-खड़े जाते हैं और कुछ लटककर ही जाते हैं, परन्तु जाते सभी हैं। यदि बैठने की जगह न मिलने के कारण वे बस पर ही न चढ़ें और परीक्षा देने से वंचित रह जायँ तो उनकी भारी हानि होगी। इसी प्रकार छात्र टूटी हुई बस की पहले मरम्मत कराकर जाने का निर्णय लें और परीक्षा देने से वंचित रह जायँ तो भी उनकी भारी हानि होगी। छात्रों का मात्र लक्ष्य है परीक्षा स्थल पर समय से पहुँच जाना और वे ऐसा ही करते भी हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि लक्ष्य को प्राप्त करना ही पहली आवश्यकता होती है। बस में बैठने की जगह पाने अथवा बस की मरम्मत कराने के प्रति कोई रूचि न होना अथवा आसक्ति का न होना ही अनासक्त भाव कहलाता है और यही भाव गीता में निष्काम कर्म कहलाता है।

अतः समस्त कार्यों को अनासक्त भाव से करते हुए अपने लक्ष्य को प्राप्त करना ही उस समय सबसे बड़ा कर्तव्य है।

इसी प्रकार करोड़ों अरबों वर्ष के बीच अल्प समय अर्थात् लगभग

सौ वर्ष के लिये जन्मे मनुष्य का चरम लक्ष्य है कि वह अपने जन्म के पूर्व एवं बाद के अव्यक्त स्वरूप का अथवा उस चेतन सत्ता के स्वरूप का साक्षात्कार कर लें जिससे यह विश्व ब्रह्माण्ड नियमित नियन्त्रित एवं सञ्चालित है। अर्थात् निधन के पश्चात् जहाँ मनुष्य जाता है उसका साक्षात्कार (ज्ञान प्राप्त) कर लें। जीवन यापन के लिये भौतिक जगत् की समस्त नियत कर्मों को अनासक्त होकर करते हुए ब्रह्म साक्षात्कार प्राप्त करना ही मनुष्य का चरम लक्ष्य है और यही मनुष्य का धर्म है।

जिस प्रकार बस से यात्रा करने वाले छात्र बस के प्रति कोई आसक्ति नहीं रखते उसी प्रकार भारतीय ऋषियों का कथन है कि पृथ्वी पर जीवनयापन करने के लिये सभी नियत व आवश्यक कर्म नैतिकता के साथ अवश्य पूरे किये जायँ परन्तु पृथ्वी की भौतिकता (भौतिक सम्पदा) में आसक्ति न होकर अर्थात् अनासक्त होकर सभी कार्य किये जायँ। आसक्ति से उनका तात्पर्य है कि भौतिक सम्पदा में इस प्रकार लिप्त न हो जायँ या डूब न जायँ कि जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त करना ही भूल जायँ।

चरम लक्ष्य का ध्यान रखते हुए ही सभी नियत कर्म किये जायँ। इसी तथ्य को भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में इस प्रकार कहा है—

युक्ताहार विहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु।
युक्त स्वभावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥
गीता—६ १७

मन को ईश्वर के साथ युक्त रखते हुए अर्थात् समर्पित करते हुए आहार विहार निद्रा तथा समस्त कर्म करना चाहिये। इस प्रकार की

चेष्टा जिसकी रहती है वे ही दुःखों का नाश करने वाले योग की की सिद्धि प्राप्त कर पाते हैं।

कबीरदास जी पढ़े-लिखे नहीं थे परन्तु इसी तथ्य को वे अपने ढंग से व्यक्त करते हैं जो इसी के समानान्तर है, वह इस प्रकार है—

उठत बैठत खड़े उताने।
कहैं कबीर हम उसी ठिकाने।।

उठते-बैठते खड़े हों या सोये हों अर्थात् जीवन के सभी कार्य करते हुए भी मेरा मन सदैव ईश्वर के साथ लगा रहता है। उसी ठिकाने रहने अर्थात् ईश्वर के साथ मनयुक्त रहने का ही परिणाम था उनके ज्ञान का पराकाष्ठा पर होना। उनके द्वारा लिखाये गये दोहे भारतीय साहित्य का अमूल्य भण्डार है।

इस तथ्य को जन-जन तक पहुँचाने के लिये एक पौराणिक कहानी प्रचलित है जो इस प्रकार है—

नारद मुनि को इस बात का अभिमान हुआ कि भगवान नारायण का मुझसे बड़ा भक्त इस त्रैलोक्य में दूसरा कोई नहीं है। एक दिन वे भगवान नारायण से स्वयं पूछ बैंठे कि इस त्रैलोक्य में सबसे बड़ा आपका भक्त कौन है ? भगवान नारद मुनि के मन की बात समझ गये। उन्होंनें अँगुलियों का इशारा करते हुए वहीं से नारद जी को दिखलाया कि पृथ्वी पर अमुक गाँव का वह किसान जो इस समय अपने खेत पर हल चला रहा है मेरा सबसे बड़ा भक्त है। नारद जी को बड़ा आश्चर्य हुआ और दुःख भी, इसलिये कि मेरे रहते हुए भी भगवान इस किसान को बड़ा भक्त बता रहे हैं। उनसे रहा नहीं गया, वे उस किसान का सूक्ष्म निरीक्षण करने लगे। उनको यह

जानकर आश्चर्य हुआ कि यह किसान किसी भी समय भगवान की पूजा-पाठ या आराधना नहीं करता है। उन्होंने एक आश्चर्यजनक बात और देखा कि वह कार्य करते समय बीच में अचानक रूककर अपने दोनों कान पकड़ता और कुछ बुदबुदाता है, पुनः अपना कार्य करने लगता है। दिन भर में वह ऐसा कई बार करता है।

नारद जी उसके पास गये और पूछा कि तुम भगवान की पूजा आराधना कब करते हो ? उसने बताया कि दिन भर के काम से समय ही नहीं मिलता कि हम पूजा आराधना कर सकें। मैं बड़ा अभागा हूँ, मैं पूजा आराधना नहीं कर पाता। नारद जी बड़े आश्चर्य-चकित हुए कि भगवान ने इसको सबसे बड़ा भक्त कैसे कह दिया ? पुनः उन्होंने पूछा कि तुम काम के वक्त कभी-कभी बीच में अपना कान क्यों पकड़ते हो ? प्रत्युत्तर में उसने बताया कि यह जो कुछ है मेरी स्त्री, पुत्र, पुत्री, जमीन तथा सम्पत्ति सब भगवान का है। मैं उनका दास हूँ, उन्हीं का ध्यान करते हुए सब समय उनका काम करता रहता हूँ। जब काम में कोई गलती हो जाती है तो अपना कान पकड़कर मैं भगवान से क्षमा माँग लेता हूँ कि आपका कार्य करते समय मुझसे यह गलती हो गई, मुझे क्षमा कर दीजिये। पुनः उनका ध्यान करते हुए उनका काम करने लगता हूँ। मन ही मन नारद जी ने उस किसान के भक्ति की श्रेष्ठता को स्वीकार किया।

भौतिक जगत के समस्त कर्तव्यों को अवश्य पूरा किया जाय परन्तु अनासक्त होकर। ईश्वर की ओर ध्यान रखते हुए नियत कर्म किये जायँ तो अनासक्त भाव स्वयंमेव बन (हो) जाता है। भारतीय ऋषियों ने इसी मार्ग का अनुसरण करने को प्रेरित किया है। यही

भारतीय अध्यात्म और भारतीय संस्कृति की आधारशिला और परम्परा है।

महात्मा गाँधी समस्त कर्तव्यों को करते हुए ईश्वर उपासना जीवन पर्यन्त करते रहे। मृत्यु के अन्तिम क्षण में भी हे राम, हे राम कहते हुए इस संसार से विदा हुए। भारतीय ऋषियों ने जिस आदर्श का अनुसरण करने को प्रेरित किया है उसी का अनुकरण करते हुए गाँधी जी का जीवन व्यतीत हुआ।

भौतिक जगत की नश्वरता—

भारतीय ऋषियों का कथन है कि मनुष्य जीवन अल्प समय के लिये है उसकी सार्थकता इस बात में है कि वह चेतन सत्ता या ब्रह्म का साक्षात्कार कर लें। भौतिकता इसमें बाधक है। जीवन का निर्वाह करने के लिये आवश्यक कार्यों को तथा भौतिक सम्पदा का उपयोग करना ही होगा परन्तु अनासक्त होकर। भौतिकता में डूब जाने पर मनुष्य जन्म का लक्ष्य प्राप्त करना संभव नहीं होगा। भौतिकता पूर्णतया क्षणभंगुर है, नश्वर है तथा निरर्थक है। ऋषियों तथा सन्तों ने इस तथ्य को विभिन्न श्लोकों तथा कहानियों के माध्यम से धर्मशास्त्रों में देकर समझाने का प्रयास किया है जिसमें से कुछ उदाहरण ले रहा हूँ जो इस प्रकार हैं—

राजा भर्तृहरि एक उच्च योगी थे। उनके द्वारा इसी विषय पर वैराग्य शतक लिखी गई है जिसके कुछ श्लोक निम्नलिखित हैं—

१. भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता,
स्तपो न तप्त वयमेव तप्ताः।

कालो न यातो वयमेव याता:,
स्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा: ॥

वैराग्य शतक—१२

हमने विषयों को नहीं भोगा वरन विषयों ने ही हमें भोग लिया हमने तपस्या नहीं की वरन् तपस्या ने ही हमें तप्त कर दिया। हमसे काल व्यतीत न हुआ वरन् हम ही व्यतीत हो गये। तृष्णा जीर्ण न हुई वरन हम ही जीर्ण हो गये।

२. बलिभिर्मुखक्रान्तं पलितैरङ्कितं शिर:।
गात्राणि शिथिलायन्ते तृष्णैका तरुणायते ॥ १४ ॥

—वैराग्य शतक

झुर्रियों से मुख भर गया। शिर के केश श्वेत हो गये, शरीर शिथिलता को प्राप्त हो गया तो भी तृष्णा घटने की अपेक्षा तरूण ही होती जा रही है।

३. अभक्तायां यस्यां क्षणमपि न यातं नृपशतै-
र्भुवस्तस्या लाभे क इव बहुमान: क्षितिभुजाम्
तदंशस्याप्यंशे तदवय लेशेऽपि पतयो
विषादे कर्त्तव्ये विदधति जड़ा: प्रत्युत मुद्रम् ॥२४॥

—वैराग्य शतक

सैकड़ों ही राजागण जिसे अपनी समझकर संसार से चले गये परन्तु यह किसी के द्वारा भी भोगी नहीं गई। ऐसी पृथ्वी को पाकर गर्व करना क्या उचित है? इसके अंश के भी अंश को प्राप्त करके

अपने को पृथ्वीपति मानना आश्चर्य का ही विषय है क्योंकि जहाँ खेद करना चाहिये वहाँ मूर्ख पुरुष आनन्द ही समझा करते हैं।

४. चला विभूतिः क्षणभगि यौवनं,
कृतान्त दन्तान्त वर्ति जीवितम्।
तथाप्यवज्ञा परलोक साधने,
नृणामही विस्मयकारि चेष्टितम् ॥ ९९ ॥

—वैराग्य शतक

ऐश्वर्य चंचल और यौवन क्षणभंगुर है। मनुष्य का जीवन काल के दाँतों के मध्य पड़ा है तो भी मनुष्य परलोक की प्राप्ति के साधन की अवज्ञा करता जाता है, अहो ! मनुष्य की यह चेष्टा कैसी विस्मय-कारिणी है।

५. पृथ्वी दह्यते यत्र मेरुश्चापि विशीर्य।
शुष्यत्यम्भी निधि जलं शरीरे तत्र का कथा ॥१००॥

—वैराग्य शतक

जब पृथ्वी जलकर भस्म हो जाती है, सुमेरु पर्वत भी खण्ड-खण्ड हो जाता है और समुद्र भी शुष्क हो जाता है। तब शरीर का तो कहना ही क्या है ?

६. न जातु कामः कामाना मुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कष्णवत्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥

मनुस्मृति—२।९४

विषयों की कामना विषयों के भोग से कभी शान्त नहीं होती है किन्तु हवि डालने से अग्नि की ज्वाला के सदृश और अधिक बढ़ती है।

उपनिषद

भौतिक सुख को महत्व न देकर आत्म विषयक ज्ञान को महत्व देने का उदाहरण कठोपनिषद में यमराज और नचिकेता के प्रश्नोत्तर में दर्शाया गया है।

यमराज ने प्रसन्न होकर नचिकेता से तीन वर मांगने को कहा। नचिकेता ने उन तीन में से एक यह भी मांगा कि मुझे आत्म तत्व विषयक ज्ञान करा दीजिये। यमराज ने कहा कि मैं तुम्हें संसार के सभी दुर्लभ भौतिक सुख प्रदान करता हूँ परन्तु आत्म तत्व विषयक प्रश्न मत पूछो।

नचिकेता ने कहा—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्
सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव
तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ॥ २६ ॥

—कठोपनिषद

हे यमराज ! जिन भौतिक सुखों का आपने वर्णन किया है वे सब क्षणभंगुर हैं तथा मनुष्य के सभी इन्द्रियों के तेज को क्षीण कर डालते हैं। आपने लम्बी आयु देने को कहा है वह भी अनन्त काल की अवधि की तुलना में अल्प ही है। अतः ये रथ, वाहन, नृत्यगीत आदि के सुख मुझे नहीं चाहिये।

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो
लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्य चेत त्वा।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं
वरस्तु मे वरणीयः स एव ॥ २७ ॥

—कठोपनिषद

मनुष्य कभी भी धन से तृप्त नहीं हो सकता। [तात्पर्य है कि आग में घी डालने से जैसे आग जोरों से भड़कती है उसी प्रकार धन और भोगों की प्राप्ति से भोग कामना का और विस्तार होता है। वहाँ तृप्ति कैसी ? वहाँ तो दिन-रात अपूर्णता और अभाव की अग्नि में ही जलना पड़ता है।] जितना धन चाहिये वह आपके दर्शन से ही मुझे प्राप्त हो जायेगा। जब तक आपका शासन है आपकी कृपा से हम जीवित ही रहेंगे। अतः आत्मविषयक ज्ञान के अतिरिक्त कुछ नहीं चाहिये।

इसी भावना को कुछ कथानकों तथा घटनाओं द्वारा भी व्यक्त किया गया है जो निम्न प्रकार है—

प्रथम –

धर्मराज युधिष्ठिर से प्रश्न किया गया है कि इस संसार में सबसे आश्चर्य की बात क्या है ? युधिष्ठिर ने प्रत्युत्तर में कहा कि मनुष्य यह देखता है कि प्रतिदिन कुछ लोग मृत्यु को प्राप्त हो रहे हैं और इसी प्रकार धीरे-धीरे क्रमशः सभी इसी अवस्था को प्राप्त कर रहे हैं। प्रत्येक मनुष्य यह समझता है कि कुछ समय पश्चात् ही एक न एक दिन मेरा भी निधन होना निश्चित है। इसे जानते हुए भी प्रत्येक मनुष्य

का आचरण या व्यवहार कुछ इस प्रकार का होता है जैसे वह अजर-अमर है अथवा उसे करोड़ों वर्ष जिन्दा रहना है। मनुष्य का यह आचरण ही मुझे इस संसार में सबसे आश्चर्यजनक लगता है।

द्वितीय—

एक उच्च योगी अपने पुत्रों के अत्यधिक भौतिकवादी होने से दुखी थे। पुत्र भी अपने पिता के अध्यात्म में डूबे रहने से खिन्न रहते थे। वे पिता की उपेक्षा तथा अवहेलना करते रहते थे। निधन के दिन योगी पिता ने पुत्रों से पूछा कि तुम लोगों ने कभी मेरी बात नहीं सुनी, आज जीवन के अन्तिम समय में मैं जानना चाहता हूँ कि क्या तुम लोग मेरी अन्तिम इच्छा पूरी करोगे ? पुत्रों ने कहा कि आपकी अन्तिम इच्छा हम लोग अवश्य पूरी करेंगे। पिता ने कहा कि तुम लोग मेरा अन्तिम दाह-संस्कार उसी स्थान पर करोगे जिस स्थान पर कभी किसी की लाश न जलाई गई हो। पुत्रों ने वचन दिया कि हम लोग ऐसा ही करेंगे।

निधन के पश्चात् पुत्रों ने पिता की लाश जलाने के लिये निर्जन स्थान पर ले जाकर चिता लगाया। उसी समय आकाशवाणी हुई कि इस स्थान वार असंख्य बार लाश जल चुकी है। वे लाश लेकर दूसरे स्थान पर चले गये और वहाँ चिता लगाया परन्तु पुनः आकाशवाणी हुई कि इस स्थान पर भी बहुत बार लाश जलाई जा चुकी है। पुत्रों ने तीसरे स्थान पर जाकर चिता लगाया परन्तु पुनः आकाशवाणी हुई कि इस स्थान में भी बहुत बार लाश जलाई जा चुकी है। पुत्रों ने खोज-खोजकर ऐसे पहाड़ी तथा निर्जन स्थान चुने जहाँ लाश जलाये जाने की संभावना बिल्कुल ही नहीं थी। वे जहाँ

जाते चिता लगाते परन्तु पुनः आकाशवाणी होती कि यहाँ भी बहुत बार लाश जलाई जा चुकी है। वे पूर्णतया निराश तथा हताश हो गये। तभी पुनः आकाशवाणी हुई कि—"तुम लोग व्यर्थ में परेशान हो, पृथ्वी पर ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ बहुत बार लाश न जलाई गई हो। तुमलोग मूर्ख हो, तुम्हारे पिता उच्च योगी थे, तुम लोग भौतिकता में डूब गये थे और अध्यात्म की तथा अपने पिता की उपेक्षा व अवहेलना करते रहते थे। अतः उन्होंने तुम लोगों की आँखें खोल देने के लिये—"कि करोड़ों और अरबों वर्ष के कालचक्र के मध्य भौतिक उपलब्धियों का कोई महत्व नहीं है" यह कहा था कि मेरे मरने पर मेरे लाश को ऐसे स्थान पर जलाना जहाँ कभी लाश न जलाई गई हो। और ऐसा कोई स्थान है नहीं अर्थात् पृथ्वी पर मानव का आना जाना इतनी बार हो चुका है कि एक-एक अंश पर बहुत बार लाश जलाई जा चुकी है। अतः तुम लोग कहीं भी चिता लगाकर दाह संस्कार कर लो।

इस कथानक का तात्पर्य है कि पृथ्वी पर भौतिक उपलब्धियों का उतना महत्व नहीं है जितना आध्यात्मिक उपलब्धियों अथवा अपने अव्यक्त स्वरूप को जान लेने का।

तृतीय –

इसी प्रकार एक उदाहरण हमारी ऋषि परम्परा के महान सन्त गुरु नानक जी द्वारा मानव समाज के लिये व्यक्त किया गया है जो इस प्रकार है—

एक बार गुरु नानक जी यात्रा करते हुए लाहौर पहुँचे। वहाँ एक धनाढ्य सेठ दूनीचन्द रहता था। इस सेठ की आय में जब भी एक लाख रुपये की वृद्धि हो जाती तब वह अपने मकान पर एक नया

झंडा लगा देता था। इस प्रकार उसके मकान पर बहुत से झंडे लगे हुए थे। वह गुरु नानक जी का भक्त भी था। एक दिन वह गुरु महाराज को अपने घर पर लिवा कर ले गया। उनका खूब आदर सत्कार किया। गुरु महाराज ने उस झंडे को देखकर सेठ दूनीचन्द से उसके सम्बन्ध में पूछा कि तुम्हारे मकान पर इतने झंडे किसलिये लगे हैं। दूनीचन्द ने बताया कि एक लाख रुपये का लाभ होने पर मैं एक नया झंडा लगा देता हूँ। गुरु जी मुस्कराये कुछ बोले नहीं। गुरु महाराज जब वापस लौटने लगे, दूनीचन्द उन्हें कुछ दूर छोड़ने आया और उनसे आग्रह किया कि मेरे लिये कोई आदेश करें ताकि मैं कोई सेवा आपकी कर सकूँ। गुरु महाराज ने एक सूई देकर कहा कि तुम इसे सम्हाल कर रखना, अगले जन्म में मैं तुमसे पुनः मिलूँगा तब इस सूई को मुझे वापस कर देना। दूनीचन्द सूई लेकर घर वापस आया और पत्नी को सूई देकर बोला इसे सम्हाल कर रख लो, यह गुरु महाराज की दी हुई है। इसे अगले जन्म में उन्हें वापस देनी है। पत्नी ने आश्चर्य से कहा कि तुम्हारी बुद्धि को क्या हो गया है, अगले जन्म में तो कोई भी व्यक्ति अपने साथ कुछ भी नहीं ले जा सकता। दूनीचन्द ने सूई वापस ले ली और भागता हुआ गुरु महाराज के पास जाकर बोला—गुरु जी यह सूई तो मैं अगले जन्म में अपने साथ नहीं ले जा सकता। गुरु जी बोले, अरे भाई जिस प्रकार तुम अपने लाखों रुपये ले जायेगा उसी प्रकार यह मेरी सूई भी ले जाना। दूनीचन्द ने कहा, महाराज अगले जन्म में तो यह सब कुछ साथ में जाता नहीं। गुरु जी बोले, भोले आदमी यह सब कुछ यदि साथ जाने वाला नहीं तो इन सबके लिये इतनी भाग-दौड़ क्यों करता है? यदि एक सूई भी नहीं ले जा सकते तो यह लाखों रुपये किस लिये एकत्रित कर रहा है? यह सुनकर

दूनीचन्द की आँखें खुल गईं और उसे वैराग्य-सा हो गया

गुरुनानक जी का कथन था कि जीवन यात्रा को पूरी करने के लिये आर्थिक उपार्जन अवश्य किया जाय परन्तु, उसमें डूब जाना अर्थात् उसमें लिप्त हो जाना उचित नहीं। निर्लिप्त होकर समस्त कर्म करते रहना चाहिये।

उपर्युक्त सभी कथानकों के माध्यम से भारतीय ऋषि यह बताना चाहते हैं कि मनुष्य का जीवन क्षणभंगुर है, अल्प समय के लिये है। नश्वर व निस्सार है। बड़ा से बड़ा सम्राट धनपति तथा विद्वान सभी को काल के गाल में जाना पड़ता है (मृत्यु को प्राप्त होते हैं) और तत्पश्चात् अनन्त काल के लिये किस अंधेरे में चले जाते हैं उसका कुछ अता-पता नहीं चलता। विगत पचास वर्षों के भीतर पृथ्वी पर अपने समय के कुछ महान, महा शक्तिशाली तथा प्रसिद्ध व्यक्तियों का नाम लिया जाय जैसे महात्मा गाँधी, लेनिन, रविन्द्रनाथ टैगोर व हिटलर, स्टालिन आइसन हावर, कैनेडी, कुश्चेव, वेजनेव, चर्चिल, माओत्से तुंग, जवाहर लाल नेहरू, कर्नल नासिर, मार्शल टीटो तथा तथा आइन्स्टीन, मैक्समूलर, जगदीश चन्द्र बोस आदि सभी अव्यक्त हो गये। अनन्तकाल के अन्धकार में उनका आगे क्या हुआ (कहां है तथा कैसे हैं) इसका कुछ भी अता-पता नहीं है।

भारतीय ऋषियों का कथन है कि जीवन यात्रा की पूर्ति के लिये नियत कर्मों को अवश्य पूरा किया जाय परन्तु पूरी नैतिकता के साथ एवं अनासक्त होकर भौतिक सम्पदा अथवा विषयों के सुख में इस प्रकार न डूब जांय कि जीवन के चरम लक्ष्य का प्राप्त करना ही भूल जांय। जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त मनुष्य के समक्ष हजारों समयोचित कल्याणकारी कर्म अथवा धर्म उपस्थित होते हैं। स्त्री-पुरुष व

युवा का तथा विभिन्न देश के लोगों का समय के अनुसार भिन्न कर्तव्य अर्थात् धर्म होता है। परन्तु मनुष्य के जन्म का चरम लक्ष्य क्या है, उसको प्राप्त करना ही मनुष्य का धर्म है। प्राचीन ऋषियों एवं मनीषियों का कहना है कि उस चेतन सत्ता या ईश्वर या ब्रह्म को जान लेना ही या साक्षात्कार कर लेना ही मनुष्य का चरम लक्ष्य है और यही धर्म है। अर्थात् ब्रह्म साक्षात्कार कर लेना ही मनुष्य का धर्म है। धर्म की अवस्था प्राप्त करने के लिये जो कर्म किये जाते हैं उसे धार्मिक कृत्य कहा जाता है। ईश्वर साक्षात्कार के लिये मनुष्य जब ईश्वर की सत्ता स्वीकार कर, उसके किसी भी रूप को प्रणाम करने से लेकर ईश्वर उपासना के सभी अनुष्ठान एवं बड़े-बड़े यज्ञ तक सभी धर्म की अवस्था प्राप्त करने के लिये किये जाते हैं। अतः सभी धार्मिक कृत्य कहलाते हैं। विश्व भर के सभी धर्म पथों में ईश्वर साक्षात्कार के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार की उपासना पद्धतियाँ हैं। इन सभी को धार्मिक कृत्य कहा जाता है।

ईश्वर द्वारा मनुष्य शरीर की रचना इस प्रकार की है कि ईश्वर साक्षात्कार के लिये उसे किसी बाहरी वस्तु की सहायता की आवश्यकता नहीं पड़ती। मनुष्य शरीर में वे सभी आवश्यक सामग्री तथ्य एवं परिस्थितियाँ उपलब्ध हैं जिससे ईश्वर साक्षात्कार किया जा सकता है। इसीलिये भारतीय ऋषियों ने विश्व ब्रह्माण्ड के समस्त जीवधारियों में मनुष्य योनि को सर्वश्रेष्ठ जन्म तथा अमृतपुत्र कहा है, जैसे—

"शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः"

तुम सभी अमृत पुत्र हो, मेरी बात सुनो।

मनुष्य शरीर से ही ब्रह्मज्ञान संभव है। भारतीय धर्मशास्त्रों में इसे स्पष्ट रूप से कहा गया है। इसके उदाहरण निम्न हैं—

बृहदारण्यकोपनिषद—

इहैव सन्तोथ बिद्मस्तद्वयं न चेदवेदिर्महती विनष्टि।, ये तद्विदुरमृतांस्ते भवन्त्यथेतरे दुखमेवा पियन्ति। 4/14

इसी देह में स्थित रहकर हम उस ब्रह्म को जान पाते हैं। यदि ब्रह्म को नहीं जान पाते महान विनाश को प्राप्त होते हैं और यदि जान लेते हैं तो अमरत्व को प्राप्त करते हैं। इससे भिन्न व्यक्तियों को दुःख उठाना पड़ता है।

छान्दोग्यपनिषद —

अथ यदिदस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकवेश्य दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मि न यदन्तस्तदन्वेष्टव्य तद्वाव विजिज्ञासित व्यमिति।

यह मानव शरीर ब्रह्मपुर है। इसके अन्दर एक क्षुद्र कमल कुसुमाकर गृह है। उसके भीतर एक छोटा सा आकाश है। उसके अन्दर निगूढ़ रहस्य है। उसी को जानना होगा। उसी का अन्बेषण करना होगा। यही अनुसंधान उपनिषद में सर्वत्र पाया जाता है। इसी को सत्यानुसंधान, तत्वानुसंधान, ब्रह्मानुसंधान या आत्मानुसंधान कहते हैं।

□

ब्रह्मविद्या के सिद्धान्त क्या हैं जिससे ब्रह्मसाक्षात्कार होता है ?

ब्रह्म (ईश्वर) साक्षात्कार अर्थात् धर्म की अवस्था प्राप्त करने का प्रयास दो प्रकार से किया गया है, प्राचीनकाल में तथा वर्तमान-काल में ।

१. प्राचीनकाल में—आध्यात्मिक प्रयास तथा उसका सिद्धान्त ।
२. वर्तमानकाल में—वैज्ञानिक प्रयास अथवा विज्ञान के आलोक में धर्म ।

१. आध्यात्मिक प्रयास तथा उसका सिद्धान्त—

आदिकाल से ही मनुष्य के मन में यह विचार उठता रहा है कि मैं कौन हूँ, इस जन्म के पूर्व मेरा क्या अस्तित्व था, इस जन्म में मेरा कर्तव्य क्या है तथा इस जन्म के कर्तव्य निधन के पश्चात् के समय को क्या प्रभावित करते हैं, यह संसार स्वतः चल रहा है या इसे चलाने वाला कोई जगत्नियन्ता अर्थात् ईश्वर भी है ।

प्राचीनकाल में किसी समय पृथ्वी पर विकसित अत्यन्त उच्चकोटि की मानव सभ्यता ने यह जान लेने में सफलता प्राप्त कर ली थी कि यह विश्वब्रह्माण्ड स्वतः या अनायास चलायमान नहीं है। इन सबके पीछे एक ज्ञानवान चेतन सत्ता कार्य कर रही है, जो विश्व ब्रह्माण्ड तथा उसके प्रत्येक अणु-परमाणु को नियमित-नियन्त्रित एवं संचालित किये हुए हैं। इस चेतन सत्ता को ही भारतीय ऋषि ईश्वर या ब्रह्म या आत्मा कहते हैं। ईश्वर अथवा ब्रह्म या आत्मा को प्रत्यक्ष रूप से जान लेने को ही धर्मशास्त्रों में ईश्वर साक्षात्कार, ब्रह्म साक्षात्कार अथवा आत्म साक्षात्कार कहा गया है। इस अवस्था को प्राप्त कर लेना ही मनुष्य जन्म का चरम लक्ष्य है अर्थात् ब्रह्म साक्षात्कार कर लेना ही मनुष्य का धर्म है। प्राचीन काल के ऋषियों को ईश्वर

साक्षात्कार या ब्रह्म साक्षात्कार के लिये जिस विज्ञान सम्मत विधि की जानकारी हुई उसे ब्रह्मविद्या या योगविद्या कहते हैं। इस विद्या से भारतीय धर्मशास्त्र भरे पड़े हैं। इनमें से कुछ प्रमुख इस प्रकार हैं—गीता, उपनिषद, योगशास्त्र पतंजलि, योगवशिष्ठ, शिव संहिता, हठप्रदीपिका तथा ज्ञान संकिलिनी आदि। गीता के प्रत्येक अध्याय के अन्त में लिखी यह पंक्ति—"ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्ण-अर्जुन संवादे ' ' ' अध्यायः" इसको प्रमाणित करती है।

यह ब्रह्मविद्या या योगविद्या विज्ञान सम्मत है। भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं गीता में कहा है—

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्षाम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ञातव्यमवशिष्यते॥

गीता—७,२

मैं तुम्हारे लिये इस ज्ञान को जो विज्ञान सहित है पूर्णरूप से कहूँगा। जिसको जानकर संसार में फिर कुछ भी जानने योग्य शेष नहीं रह जाता।

इस विज्ञान सम्मत योगविद्या की साधना करके धरती पर जन्मे किसी मनुष्य (स्त्री-पुरुष) द्वारा ब्रह्म साक्षात्कार कर लेना सम्भव है। इसके लिये आवश्यकता होती है मनुष्य का अपना स्वस्थ शरीर और उसका प्रबल जिज्ञासु होना। इस विज्ञान सम्मत ब्रह्मविद्या या योगविद्या को समझने के लिये निम्नलिखित दो तथ्यों को समझने की आवश्यकता है—

१. ईश्वर, ब्रह्म तथा आत्मा एक ही है।

२. मनुष्य मन की पाँच अवस्था क्या है तथा निरोध अवस्था का तात्पर्य क्या है ?

१. ईश्वर, ब्रह्म तथा आत्मा एक ही है—

मनुष्य शरीर जिस अभौतिक सत्ता या चेतन शक्ति से चलायमान रहता है, उसे कई नामों से भारतीय अध्यात्म में सम्बोधित किया गया है, उसके लिये तीन नाम विशेष रूप से लिये गये हैं। उस अभौतिक सत्ता या चेतन शक्ति को ही ईश्वर, ब्रह्म या आत्मा कहा गया है, जैसे—

ईश्वर –

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ १८/६१

—गीता

हे अर्जुन, ईश्वर (परमात्मा) सभी प्राणी के हृदय में स्थित है, वह शरीररूपी यन्त्र पर आरूढ़ होकर सभी जीवों को अपनी माया से घुमा रहे हैं।

तात्पर्य यह है कि जिस चेतन शक्ति से अर्थात् जीवात्मा से शरीर चलायमान है उसे ईश्वर या परमात्मा कहा गया है।

इसे एक स्थान पर और स्पष्ट करते हुए भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है कि—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृति स्थानि कर्षति ॥ १५/७

—गीता

इस जगत के सभी सनातन जीवों में मेरा ही अंश विद्यमान है वही इन प्रकृति में स्थित छ को मन तथा पांच इन्द्रियों को चलायमान करता है।

तात्पर्य यह है कि जिस चेतनशाली से अर्थात् जीवात्मा से यह शरीर चलायमान है वह ईश्वर या भगवान का ही अंश हैं।

ब्रह्म—

अर्जुन के यह प्रश्न करने पर कि इस शरीर के भीतर वह ब्रह्म कहा है भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है—

अक्षरं ब्रह्म परं स्वभावोध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः॥ ८ ३

—गीता

इस शरीर के भीतर जो अक्षर है अर्थात् जिसका नाश नहीं होता है (क्षर का अर्थ है नाशवान तथा अक्षर का अर्थ है जिसका नाश नहीं होता अर्थात् जीवात्मा) वह परम ब्रह्म ही है। उसके प्रति अपना स्वभाव ही अध्यात्म है। भूतों के भाव को उत्पन्न करने वाला स्वभाव के संस्कार को बनाने वाला प्रेरक बल (यज्ञ) धार्मिक कृत्य योग क्रिया ही कर्म कहलाता है।

तात्पर्य यह है कि जिस चेतनशक्ति से अर्थात् जीवात्मा से ही यह शरीर चलायमान है, वह ईश्वर (परमब्रह्म) का ही अंश है। उसे ही ब्रह्म कहते हैं।

आत्मा—

आत्मा ईश्वर का ही स्वरूप है इस तथ्य को स्पष्टरूप से भगवान श्रीकृष्ण ने इस प्रकार कहा है—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशय स्थित:।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानांमन्त एव च ॥ 10/20

—गीता

हे अर्जुन ! सभी जीवों के भीतर स्थित यह आत्मा ही मैं हूँ। सभी जीवों के आदि, मध्य तथा अन्त में भी मैं ही रहता हूँ।

तात्पर्य यह है कि जिस चेतनशक्ति से अर्थात् जीवात्मा से यह शरीर चलायमान है, वह भगवान का ही स्वरूप है।

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि भारतीय अध्यात्म में ईश्वर, ब्रह्म तथा आत्मा एक ही है तथा ईश्वर साक्षात्कार, ब्रह्म साक्षात्कार तथा आत्म साक्षात्कार भी एक अवस्था का द्योतक है।

मनुष्य मन की पाँच अवस्था—

मनुष्य में मन की पाँच अवस्थायें पायी जाती हैं जो इस प्रकार हैं—(1) क्षिप्त (2) विक्षिप्त (3) चंचल (4) एकाग्र तथा (5) निरोध (स्थिर)।

1. क्षिप्त—

निष्क्रिय या खराब मस्तिष्क अर्थात् पागल जिसकी सोचने समझने की क्षमता नष्ट हो चुकी है। ऐसे लोग योग विद्या या ब्रह्म विद्या के उपयुक्त नहीं होते हैं।

2. विक्षिप्त—

व्यग्र अथवा व्याकुल मस्तिष्क। इस प्रकार के लोग किसी न किसी कारणवश व्यग्र एवं व्याकुल अथवा अति उत्तेजित रहा करते हैं। ऐसे लोग भी ब्रह्म विद्या या योग विद्या के उपयुक्त नहीं होते हैं।

3. चंचल—

लगभग समस्त मानव समुदाय का मन इस चंचल अवस्था में रहता है। प्रातः निद्रा से उठने के बाद तथा पुनः निद्रा में जाने के पूर्व अर्थात् जागृत अवस्था में प्रति क्षण वह कुछ न कुछ सोचता ही ही रहता है। क्षण-क्षण में सोचने का विषय बदलता रहता है। यही मनुष्य का स्वभाव है। इसी को मनुष्य की चित्त वृत्ति अथवा चंचल अवस्था कहते हैं।

4. एकाग्र अवस्था—

यह मनुष्य की क्षमता के ऊपर निर्भर करता है। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी-अपनी क्षमता होती है जिसके अनुसार वे थोड़े या अधिक समय तक के लिये चंचल मन को एकाग्र कर लेते हैं। एकाग्रता का अर्थ है किसी एक दिशा में मन का लगातार लगे रहना जैसे व्यक्ति जब भी किसी पुस्तक को पढ़ता है तब उसका प्रतिक्षण बदलने वाला चंचल मन एक दिशा में क्रियाशील रहता है। यह मन की एकाग्र अवस्था कहलाती है। प्रत्येक कार्य में मन के एकाग्रता की आवश्य-कता पड़ती है। विश्व का जितना भी मानवीकृत विकास है वह सभी मानव मन की एकाग्रता का परिणाम है। जितने भी विद्वान प्रोफेसर डाक्टर, इंजीनियर तथा गणितज्ञ आदि हुये हैं वे सभी मन को एकाग्र करके ही अपना लक्ष्य प्राप्त किये हैं। प्रकृति की यह देन है कि मनुष्य क्षमतानुसार अपना मन एकाग्र कर सकता है।

5. निरोध (स्थिर) अवस्था—

चंचल मन का किसी कार्य की एक दिशा में लगातार क्रियाशील रहना एकाग्र अवस्था कहलाता है परन्तु चंचल मन को एक बिन्दु पर

रोक देना अर्थात् एक ही बिन्दु को मन से धारण किये रहना या उस पर लगा रहना ही मन की निरोध अवस्था या स्थिर अवस्था कहलाती है। अभौतिक सत्ता या ब्रह्म या ईश्वर से साक्षात्कार चंचल मन के स्थिरत्व से ही संभव होता है। इस चंचल मन का ईश्वर में स्थिर होना या उसे धारण करना ही आध्यात्मिक सफलता है।

प्रकृति की यह देन है कि मनुष्य अपने चंचल मन को अपनी क्षमतानुसार एकाग्र कर सकता है परन्तु यह देन नहीं है कि वह अपने चंचल मन को एक विन्दु पर स्थिर कर ले अर्थात् उसे धारण कर ले। मन की एकाग्रता के परिणाम स्वरूप व्यक्ति को थकान का अनुभव होता है परन्तु स्थिरता से स्फूर्ति का अनुभव होता है।

लगभग सौ वर्ष की आयु तक के वृद्ध व्यक्ति भी यह स्वीकार करते हैं कि पूरे जीवन भर के प्रयास के बाद भी मन निरुद्ध नहीं होना अर्थात् यह चंचल मन ब्रह्म को धारण नहीं कर पाता। श्रद्धा, भक्ति, विश्वास एवं दृढ़ निश्चय के साथ प्रतिदिन समय पर नियम-पूर्वक पचास-साठ वर्ष तक जिन लोगों ने धार्मिक पुस्तक का पाठ अथवा माला लेकर मन्त्र जाप आदि करते हुए ईश्वर आराधना की है वे भी यह स्वीकार करते हैं कि चंचल मन निरुद्ध नहीं होता। ईश्वर आराधना के समय प्रबल प्रयास के पश्चात् भी यह चंचल मन ईश्वर को धारणा न कर कहीं और किन्हीं दूसरे विषयों में विचरण करने लगता है। यही मानव स्वभाव है। गीता में श्रीकृष्ण ने मानव स्वभाव व्यक्त करते हुए कहा है—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नाव मिवाम्भसि॥

गीता—२।६७

जिस प्रकार जल में पड़ी नाव को प्रचण्ड वायु हरण (उड़ा देना या डांवा डोल) कर ले जाती है उसी प्रकार विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों में से मन जिस इन्द्रिय के साथ लगा रहता है। वह एक इन्द्रिय ही प्रज्ञा को हर लेती है अर्थात् मन को विषयों की ओर खींच ले जाती है।

एक विन्दु पर मन स्थिर नहीं होता है तथा यह असंभव जैसा है। प्रयास करने पर सभी को यह अनुभव होता है। गीता में अर्जुन से प्रश्न कराकर पूरे मानव समुदाय के स्वभाव को व्यक्त किया गया है।

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवदृढ़म्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

गीता—६।३५

अर्जुन बोले—

हे कृष्ण ! यह मन बड़ा चंचल प्रमथन स्वभाव वाला, दृढ़ और बलवान है, इसलिये इसका निरोध (स्थिर) करना मैं वायु को रोकने की भाँति अत्यन्त दुष्कर मानता हूँ।

श्रीकृष्ण ने इसे स्वीकार करते हुए कहा—

असंशयं महाबाहो मनोदुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥

गीता—६।३५

श्रीकृष्ण बोले—

हे महाबाहो ! इसमें कोई संशय नहीं है कि यह मन चंचल है और इसको निरुद्ध (स्थिर) करना कठिन है परन्तु हे कुन्तीपुत्र

(अर्जुन) यह अभ्यास (योग साधना के अभ्यास) और वैराग्य (अनावश्यक इच्छाओं से रहित होना) से निरुद्ध होता है।

अध्ययन-अध्यापन अथवा पढ़-लिखकर जान लेने से मन को स्थिर नहीं किया जा सकता। कबीरदास जी पढ़े-लिखे नहीं थे। उनके विषय में कहा गया है कि कागज को उन्होंने छुआ नहीं और कलम उनके हाथ में गई नहीं। परन्तु योग-साधना अभ्यास (योगाभ्यास) करके उन्होंने लक्ष्य अर्थात् मन को स्थिर करने में सफलता प्राप्त की थी। अपने अनुभव के आधार पर निष्कर्ष में ये भी कहते हैं कि मन चंचल है यह स्थिर नहीं होता। इस तथ्य को उन्होंने इस प्रकार व्यक्त किया है—

माला तो कर में फिरै, जीभ फिरै मुख माहि।
मनवा तो चहुँ दिसि फिरे, यह तो सुमिरन नाहि॥

कबीरदास जी का तात्पर्य है कि व्यक्ति माला लेकर ईश्वर-उपासना के लिए बैठता है और मन्त्र का जाप करता है। माला तो हाथ में घूमती रहती है और जीभ मन्त्र का उच्चारण करती रहती है। परन्तु मन दसो दिशाओं में अर्थात् विषयों में घूमता रहता है। वह ईश्वर के साथ युक्त नहीं होता। ऐसी स्थिति को सुमिरन अर्थात् स्थिर (निरुद्ध) अवस्था नहीं कहा जा सकता।

वे कहना चाहते हैं कि यदि सुमिरन हो जाता अर्थात् मन ईश्वर के साथ युक्त हो जाता तो परिणाम भी वही होता जो युग-युग से सभी के साथ होता आया है अर्थात् ईश्वर का साक्षात्कार अवश्य हो जाता। जब तक मन ईश्वर के साथ युक्त नहीं होता तब तक साक्षात्कार की आशा करना ही व्यर्थ है। मन के स्थिर हुए बिना लोगों द्वारा ईश्वर-साक्षात्कार की आशा करना व्यर्थ है। विधिपूर्ण अर्थात्

वैज्ञानिक विधि के न होने के कारण प्रयास को विफल प्रयास की संज्ञा देते हुए कबीरदास जी कहते हैं—

अँखियन में झांई पड़ी पंथ निहारि निहारि।
जिह्वा में छाला परा राम पुकारि पुकारि॥

राम (ईश्वर) के साक्षात्कार का राह देखते-देखते आँखों में झांई पड़ गई तथा राम को पुकार-पुकार कर जीभ में छाला पड़ गया परन्तु राम नहीं मिले अर्थात् ईश्वर साक्षात्कार नहीं हुआ।

ईश्वर साक्षात्कार के लिए हजारों बार या लाखों बार तथा जोर-जोर से पुकारना महत्वपूर्ण नहीं होता बल्कि महत्वपूर्ण होता है मन का स्थिर होना। इसे इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि दिल्ली के दस लाख लोग मिलकर भी एक साथ पूरी ताकत से हजारों बार बाम्बे वालों के लिए आवाज दें तब भी उनकी कोई आवाज वहाँ तक नहीं पहुँचेगी परन्तु यदि वैज्ञानिक विधि से अर्थात् फोन (दूरभाष) पर एक व्यक्ति चाहे तो अपने कमरे में आराम से बैठा हुआ सामान्य आवाज में बाम्बे तो क्या अमेरिका, रूस या चीन तक बैठे लोगों से घंटों बातें कर सकता है। इसी प्रकार जब तक मन चंचल है राम अर्थात् ईश्वर का कोई अता-पता मिलना संभव नहीं है। परन्तु यदि यह चंचल मन ब्रह्म में स्थिर हो जाय तो प्रत्येक पुकार पर ईश्वर का प्रत्युत्तर प्राप्त होगा। अर्थात् जब भी ईश्वर साक्षात्कार करना चाहेंगे मन केन्द्रित करने पर साक्षात्कार होगा।

ब्रह्म या ईश्वर साक्षात्कार के लिए मन की स्थिरता ही सफलता है और चंचलता ही विफलता है। इसी भाव को व्यक्त करते हुए कहा गया है—

मनोन्यत्र शिवोन्यत्र शक्तिरन्यत्र मारुतः।
न सिद्धन्ति वरारोहे कल्पकोटि शतैरपि॥

साधन के समय मन एक ओर जाता है, शिव अन्यत्र रहते हैं। शक्ति किसी दूसरे स्थान पर तथा प्राणवायु अन्य स्थान में चल रही है। हे वरारोहे! ऐसी स्थिति में करोड़ों वर्ष में भी कोई सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता अर्थात् ईश्वर साक्षात्कार कर पाना संभव नहीं है।

निष्कर्ष यह है कि चंचल मन को नियंत्रित कर ब्रह्म में लगा देने या मन से ब्रह्म को धारण कर लेने में ही सफलता मिलती है अर्थात् ब्रह्म साक्षात्कार होता है। इसी को निरोध या स्थिर अवस्था या योग भी कहते हैं। यथा "योगश्चित्तवृत्ति निरोधः"। चंचल मन को जिस वैज्ञानिक विधि से नियन्त्रित कर ब्रह्म के साथ युक्त किया जाता है उसे ब्रह्मविद्या या योगविद्या कहा जाता है। यह विद्या पूर्णतया विज्ञान सम्मत है। गीता में सातवें अध्याय के दूसरे श्लोक में भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को सम्बोधित करते हुए कहा—मैं तुम्हारे लिए इस ज्ञान को जो विज्ञान सहित है पूर्ण रूप से कहूँगा, जिसको जानकर संसार में फिर कुछ भी जानने योग्य शेष नहीं रह जाता।

इस विज्ञानसम्मत ब्रह्मविद्या की साधना करके मन से ब्रह्म को धारण कर लेने पर ब्रह्म-साक्षात्कार होता है। यह अवस्था प्राप्त कर लेना ही मनुष्य जन्म का चरम लक्ष्य है। इसी में मनुष्य जन्म की सफलता है। इसीलिये भारतीय ऋषि मन से ब्रह्म को धारण कर लेने को 'धर्म' कहते हैं।

"सा धारेति इति धर्मः"

ब्रह्म (सा) को मन से धारण कर लेना ही धर्म है।

ब्रह्म विशाल है, अनन्त है परन्तु जहाँ मन से ब्रह्म को धारण करने की चर्चा की गई, उसका तात्पर्य ब्रह्म के एक अणु अर्थात् ब्रह्माणु से होता है। यह सूक्ष्मतम होता है अर्थात् इससे सूक्ष्म कुछ नहीं है। इस ब्रह्माणु को बिन्दु शब्द से भी सम्बोधित किया गया है।

इस ब्रह्माणु अर्थात् विन्दु को मन से धारण करने को जन्म की सफलता तथा पतन अर्थात् मन से धारण न कर पाने को विफलता कहा है। इसी तथ्य को शिव सहिता में इस प्रकार कहा गया है जैसे—

मरणं विन्दु पातेन, जीवनं विन्दु धारणे।
तस्यादति प्रयत्नेनं कुरुते विन्दु धारणां ॥

शिव संहिता—४।८८

विन्दु (ब्रह्म का एक अणु या ब्रह्माणु) के साथ मन का स्थिर होना या विन्दु को मन से धारण कर लेना ही जीवन है अर्थात् मनुष्य जन्म की सफलता है और विन्दु (ब्रह्माणु) को मन से धारण न कर पाना अर्थात् विन्दु से पतन की स्थिति को मरण के समान अर्थात् जीवन को असफल माना है। अतः प्रयत्न से विन्दु को धारण करना उचित है। यही मनुष्य जन्म का सर्वश्रेष्ठ धर्म है।

बह्माणु (विन्दु) अर्थात् ब्रह्म को मन से धारण करना या उसमें मन स्थिर करना या उसमें मन का निरोध होना या उसमें मन का युक्त होना या ध्यान करना उसमें मन का लगा रहना या प्रेम करना (कबीरदास ने इसे प्रेम शब्द से सम्बोधित किया है), इन सभी का तात्पर्य एक ही है। अर्थात् धारण करना, स्थिर करना, निरोध करना, लगा रहना, ध्यान करना, प्रेम करना इन सभी का तात्पर्य एक ही है।

ब्रह्म को मन से धारण करना ही धर्म कहलाता है। यथा—"सा धारेति इति धर्मः" और मन का निरोध करना ही योग कहलाता है यथा—"योगश्चित्तवृत्ति निरोधः।" जब धारण करना और निरोध करना दोनों का तात्पर्य एक ही है। तब प्रश्न उठता है कि दो शब्दों धर्म और योग अलग-अलग भाव व्यक्त करते क्यों दिखलाई पड़ते हैं।

अवस्था की दृष्टि से दोनों में कोई अन्तर नहीं है। एक ही अवस्था को ये दोनों शब्द व्यक्त करते हैं। परन्तु जब हम धर्म शब्द का प्रयोग करते हैं तो उसका तात्पर्य उस विन्दु से प्रारम्भ हो जाता है जब मनुष्य ईश्वर की सत्ता को स्वीकार कर श्रद्धा भक्ति के साथ उनको प्रणाम करने से लेकर जो भी उपासना पद्धति वह अपनाता है उसको करता हुआ मन से ब्रह्म को धारण कर लेता है वह सभी धार्मिक कृत्य है और मन से ब्रह्म को धारण कर लेना ही धर्म है।

ब्रह्म विद्या या योग विधा की वैज्ञानिक पद्धति अपनाकर साधना करते हुए ब्रह्म को मन से धारण करने या युक्त कर लेने को योग कहते हैं। योग साधना की यह वैज्ञानिक पद्धति जहाँ से प्रारम्भ होती है और ब्रह्म के साथ मन के युक्त होने तक अर्थात् योग की अवस्था प्राप्त करने तक को ब्रह्म विद्या या योग विद्या कहते हैं। यह भी धर्म और धार्मिक कृत्य के अन्तर्गत की ही क्रिया है।

मानवीय तथा नैतिक गुणों के विकसित होने पर ही मनुष्य का मन ब्रह्म में लगना प्रारम्भ होता है। जीवन में जो व्यक्ति मानवीय तथा नैतिक कर्त्तव्यों का निर्वाह करता हुआ श्रद्धा भक्ति के साथ ब्रह्म में मन लगाता है उसी को अन्त में सफलता मिलती है। वही व्यक्ति मन से ब्रह्म को धारण कर पाता है। जिस अनुपात में

मानवता तथा नैतिकता के गुण व्यक्ति के भीतर विकसित होते हैं उसी अनुपात में मन भी ब्रह्म के साथ युक्त होता है। मानवता तथा नैतिकता ही धर्म की पहली सीढ़ी है। इसीलिये इन गुणों से युक्त कर्त्तव्यों को भी धर्म कहा गया है। अमानवीय तथा अनैतिक व्यक्ति का मन ब्रह्म में लगता नहीं।

धर्म की यह अवस्था अध्ययन-अध्यापन से प्राप्त होती नहीं। मन को ब्रह्म के साथ युक्त करने पर ही प्राप्त होती है। इसका अति श्रेष्ठ उदाहरण कबीर हैं। कबीर के कथनों से यह स्पष्ट हो जाता है।

(१) सर्वप्रथम तो उनके दोहे की एक पंक्ति को ले रहा हूँ जो इस प्रकार है—

"मसि कागज छूयो नहीं कलम गह्यो नहीं हाथ"

कबीर का कथन है कि मैंने हाथ में कभी कागज और कलम लिया नहीं। अर्थात् उनका अध्ययन-अध्यापन कभी हुआ नहीं। वे जो कुछ भी दोहे बोले उसे उनके भक्तों ने लिखा, वही कबीर ग्रन्थावली है।

(२) उनके ज्ञान का आधार था 'प्रेम' जिसे उन्होंने जगह-जगह व्यक्त किया है। कबीर के प्रेम का तात्पर्य है कि व्यक्ति का मन ब्रह्म या ईश्वर के साथ जिस अनुपात में लगा रहता है उसी अनुपात में प्रेम का होना होता है। उनके इस दोहे से यह स्पष्ट हो जाता है—

माला तो कर में फिरै, जीभ फिरै मुख माहिं।
मनवा तो दहुँदिशि फिरै, यह तो सुमिरन नाहिं॥

मन से ईश्वर को स्मरण करने के लिये बैठने पर माला हाथ में फिरती रहती है और जीभ मुख में परन्तु मन दसो दिशाओं में घूमता

रहता है। यह ईश्वर का स्मरण करना नहीं हुआ, अर्थात् मन ईश्वर में लगा नहीं या प्रेम हुआ नहीं।

कबीर के कहने का तात्पर्य है कि यदि मन लग जाता, स्थिर हो जाता अर्थात् प्रेम हो जाता तो परिणाम भी वही होता जो युग-युग से होता आया है। प्रेम होने पर अर्थात् मन से ब्रह्म को धारण करने पर जो परिणाम होता है वह सभी प्राप्त हो जाता। भारतीय ऋषियों के समान ही कबीर ने अपनी भाषा में कहा है कि प्रेम (ब्रह्म या ईश्वर के साथ मन के स्थिर होने पर) होने पर ब्रह्म साक्षात्कार, ब्रह्मज्ञान, ब्रह्म में लय (मोक्ष) ब्रह्मानन्द तथा सर्वज्ञ आदि सभी अवस्थायें प्राप्त हो जाती हैं। प्रत्येक अवस्था के सम्बन्ध में उसी भाव को व्यक्त करता कबीर का दोहा देखने से स्पष्ट हो जाता है।

□

ध्यान से ही ब्रह्म साक्षात्कार का होना—

इस विशाल विश्व ब्रह्माण्ड को नियमित, नियन्त्रित तथा सञ्चालित करने वाली उस चेतन सत्ता को ही ईश्वर, ब्रह्म या आत्मा कहा गया है। अतः ईश्वर साक्षात्कार, ब्रह्म साक्षात्कार या आत्म साक्षात्कार इन तीनों का तात्पर्य एक ही होता है। ब्रह्म साक्षात्कार होना ही ब्रह्म का ज्ञान होना है। अतः इसी को ज्ञान, ब्रह्मज्ञान तथा आत्मज्ञान का होना भी कहा जाता है।

ब्रह्म को जान लेने के साथ ही आत्मा का ब्रह्म में लय हो जाता है जिसे ब्रह्म निर्वाण या योगारूढ़ अवस्था भी कहा गया है। यही मोक्ष, आवागमन से मुक्त होना, अमर होना, परम गति, परम पद, परम शाश्वत पद, स्थिति लाभ, काशी लाभ तथा परम शान्ति अवस्था का प्राप्त होना कहलाता है। इसी अवस्था में ब्रह्मानन्द तथा सर्वज्ञ (अन्तर्यामी, दिव्यदृष्टि) की स्थिति भी प्राप्त होती है।

इसे समझने के लिये एक उदाहरण ले रहे हैं जो इस प्रकार है। हिन्दी विषय से स्नातकोत्तर (एम. ए.) उत्तीर्ण व्यक्ति से यह पूछने की आवश्यकता नहीं समझी जाती कि वह हिन्दी की पुस्तक पढ़ सकता है या नहीं अथवा वह हिन्दी लिख सकता है या नहीं तथा वह प्राथमिक कक्षा के बच्चों को हिन्दी सिखा सकता है या नहीं। तात्पर्य है कि स्नातकोत्तर (एम. ए.) उत्तीर्ण व्यक्ति में इन सभी गुणों का अर्थात् हिन्दी पढ़ सकना, लिख सकना तथा बच्चों को सिखा सकने की पूर्ण योग्यता होना निश्चित है।

इसी प्रकार उपर्युक्त सभी अवस्थायें ब्रह्म को मन से धारण करने पर अर्थात् धर्म की अवस्था प्राप्त होने पर [सा धारेति इति धर्मः] स्वतः प्राप्त होती हैं। यह उस अवस्था का गुण है। इन सभी को

प्राप्त करने के लिये अलग-अलग कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। इनमें से किसी भी एक अवस्था के प्राप्त होने का अर्थ है कि अन्य सभी सम्बोधित अवस्थायें भी प्राप्त हैं।

ब्रह्म के साथ मन को युक्त करने से ही ब्रह्म साक्षात्कार होता है। अतः भारतीय धर्म शास्त्रों में सर्वत्र ही ब्रह्म साक्षात्कार के लिये ध्यान करने या योग साधना (वैज्ञानिक ढंग से ध्यान) करने का परामर्श देते हुए कहा गया है कि इसी से ब्रह्म या ईश्वर साक्षात्कार अर्थात् प्रत्यक्ष होते हैं। उदाहरण निम्न है—

१. श्वेताश्वरोपनिषद—

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा,
सदा जनानां हृदये संनिविष्टः।
हृदा मन्वीषो मनसाभिक्लृप्तो,
य एतद् विदुर मृतास्ते भवन्ति ॥३/१३

अङ्गुष्ठमात्र अन्तर्यामी परमपुरुष परमेश्वर सदा ही मनुष्यों के हृदय में सम्यक प्रकार से स्थित हैं। मन को वश में करके निर्मल हृदय और शुद्ध मन से ध्यान करने पर प्रत्यक्ष होते हैं। जो इन परब्रह्म परमेश्वर को जान लेते हैं वे अमर हो जाते हैं अर्थात् सदा के लिये जन्म-मरण से छूट जाते हैं।

इस श्लोक से स्पष्ट होता है कि ध्यान से ही उनका साक्षात्कार होता है, इस प्रकार जो उनको जान लेते हैं अर्थात् उनका ज्ञान होना ही ब्रह्म ज्ञान हैं वे अमर हो जाते हैं अर्थात् मोक्ष हो जाता है। ध्यान से ही ब्रह्म साक्षात्कार, ब्रह्म ज्ञान व मोक्ष होता है।

२. **मुंडकोपनिषद (तृतीय)—**

न चक्षुसा गृह्यते नापि वाचा,
नात्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञान प्रसादेन विशुद्ध सत्व,
स्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥१ ८

न तो नेत्रों से न वाणी से न दूसरी इन्द्रियों से ही जाना जा सकता है तथा नाना प्रकार की तपश्चर्या एवं कर्मो द्वारा भी उन्हें नहीं जाना जा सकता। उन अनुभव रहित परमात्मा को तो शुद्ध हृदय से ध्यान करते हुए साधक ज्ञानरूपी नेत्र से ही देख पाता है।

३. **श्वेताश्वतरोपनिषद (प्रथम)—**

तिलेषु तैलं दधनीव सर्पि,
राप स्रोतः स्वरणीषु चाग्निः।
एव मात्मा'ऽऽत्मनि गृह्यते असौ,
सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति ॥१/१५

जिस प्रकार तिलों में तेल, दही में घी, ऊपर से सूखी हुई नदी के भीतरी स्रोतों जल तथा अरणियों में अग्नि छिपी रहती है उसी प्रकार आत्मा (परमात्मा) अपने हृदय में छिपा है। सत्य (मानवता तथा नैतिकता) तथा संयम रूप तपस्या का साधन करता हुआ साधक उनका निरन्तर ध्यान करता है वह ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है।

४ **कठोपनिषद –**

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य
न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।

हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो,

य एतद् विदुर मृतास्ते भवन्ति ।।

अध्याय–२, वल्ली–३

इन परमेश्वर का स्वरूप भौतिक रूप में चर्म चक्षुओं द्वारा कोई भी नहीं देख पाता। निर्मल हृदय शुद्ध मन से ध्यान करने पर साधक ज्ञान नेत्र से साक्षात्कार करते हैं। इस प्रकार जो इन्हें जान लेते हैं वे अमर हो जाते हैं।

५. श्वेताश्वरोपनिषद—

अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये

विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ।

विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं

ज्ञात्वादेवं मुच्यते सर्वपाशैः ।। ५।१३

समस्त जगत की रचना करनेवाले आदि अन्त से रहित, अनेक रूपधारी सर्वव्याप्त, समस्त जगत को सब ओर से घेरे हुए परम ब्रह्म को जानकर मनुष्य समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाता है अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होता है।

६ कठोपनिषद—

अशब्दमस्पर्शम रूपमव्ययं

तथा रसं नित्यमगन्धवच्चयत् ।

अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं

निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ।।

(१–३–१५)

जो शब्द स्पर्श रूप, रस और गन्ध से रहित हैं तथा नित्य, अनादि तथा अनन्त हैं, जो महान श्रेष्ठ सत्य है। ऐसे परमेश्वर को जानकर मनुष्य सदा के लिये जन्म-मरण से मुक्त हो जाता है।

७ केनोपनिषद—

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनोमद्वाचो ह वाच स उ प्राणस्य प्राणः।
चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥
[१-२]

मन, प्राण, वाणी श्रोत्रेन्द्रिय तथा चक्षु जिनके कारण से कार्यरत हैं वे ही परमात्मा हैं, जिनको जानकर ज्ञानी अमर हो जाते हैं, मृत्यु पश्चात् उन्हें पुनः आना नहीं पड़ता।

८. गीता—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणः।
गच्छन्त्य पुनरावृत्ति ज्ञाननिर्धूतं कल्मषः॥ [५-७]

जिनकी बुद्धि मन और निष्ठा सब समय निरन्तर भगवत परायण होती है वे पापों से शुद्ध होकर उन्हें जान लेते हैं तथा आवागमन से मुक्त (मोक्ष को प्राप्त) हो जाते हैं।

९ श्वेताश्वतरोपनिषद—

यदा चर्म वदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तथा देवमविज्ञाय दुखस्यान्तो भविष्यति॥
[६-२०]

जिस प्रकार आकाश को चमड़े की भाँति लपेटना मनुष्य के लिये सर्वथा असंभव है। सारे मनुष्य मिलकर भी इस कार्य को नहीं कर

सकते उसी प्रकार परमात्मा को बिना जाने कोई भी जीव इस दुःख समुद्र से मुक्त (मोक्ष को प्राप्त) नहीं हो सकता।

१०. गीता—

अभ्यास योग युक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन॥ ८-८॥

योगाभ्यास करते हुए जिस पुरुष का ध्यान अनन्य चित्त से निरन्तर परमेश्वर में लग जाता है वह परमात्मा को ही प्राप्त होता है अर्थात् आत्मा का परमात्मा के साथ लय हो जाता है।

११. गीता—

मय्येव मनआधस्त्व मयि बुद्धि निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत उर्ध्वं न संशयः॥ १२-८॥

मेरे में (आत्मा अर्थात् परमात्मा में) ही तुम मन और बुद्धि को लगा दो अर्थात् ध्यान करो, परिणाम स्वरूप मुझे (परमात्मा को) ही प्राप्त करोगे। तात्पर्य है कि परमात्मा का ध्यान करने के परिणाम स्वरूप आत्मा का परमात्मा में लय हो जाता है अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होता है।

१२. गीता —

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाण मृषयः क्षीण कल्मषाः।
छिन्नद्वैधां यतात्मानः सर्वभूत हिते रताः॥

[५-२५]

जो सभी प्राणियों के हित में रत है, जिनके पाप और संशय समाप्त हो गये हैं तथा जिनका मन सब समय आत्म साक्षात्कार में

संलग्न है वे ब्रह्म निर्वाण (आत्मा का परमात्मा में लय हो जाना) के लाभ को प्राप्त करते हैं।

१३. मुण्डकोपनिषद (तृतीय)—

स वेदैतत् परमं ब्रह्मधाम
यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम।
उपासते पुरुषं ये ह्यकामा
स्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः ॥ २-१ ॥

यह सम्पूर्ण जगत् जिसमें निहित है उस परम पुरुष शुभ्र (ब्रह्मधाम) परमेश्वर को जो निष्काम साधक ध्यान की उपासना करते हुए उनको जान लेता है वह बुद्धिमान जन्म मृत्यु का अतिक्रमण कर जाता है अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

१४. गीता—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ ८-१३ ॥

अविनाशी ओंकार ब्रह्म का ध्यान करते हुए जो इस शरीर का त्याग करता है वह परम गति को प्राप्त होता है अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होता है।

१५. गीता—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वं भूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ ६१ ॥
तमेवशरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्ति स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ ६२ ॥

ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय में स्थित है वही उस पर आरूढ़ होकर उसे यन्त्रवत चलाते हैं उन्हीं की शरण में जाओ अर्थात् मन को उन्हीं के साथ युक्त करने पर परम शान्ति तथा परम शाश्वत पद प्राप्त होता है।

उपर्युक्त सभी श्लोकों के अवलोकन से स्पष्ट होता है कि मन को ब्रह्म के साथ स्थिर करने या ध्यान करने से ही ब्रह्म का साक्षात्कार होता है और ब्रह्म साक्षात्कार होना ही ज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान कहलाता है, तथा इसी को अमर होना, मोक्ष होना, आवागमन से मुक्त होना, जन्म-मरण से छूट जाना, आत्मा का परमात्मा में लय होना, ब्रह्मा निर्वाण, परम पद, परम गति, परम शान्ति, परम शाश्वत पद अवस्थ को प्राप्त होना कहा गया है।

ब्रह्मानन्द—

ब्रह्म के साथ मन के युक्त होने पर परम आनन्द की अनुभूति होती है। इस अवस्था को जिन ऋषियों ने भी प्राप्त किया उन सभी का कथन इस प्रकार व्यक्त है।

१. ब्रह्मानन्दं परम् सुखदं—

तात्पर्य है कि ब्रह्म के साथ मन के युक्त होने पर परम आनन्द की अनुभूति होती है, जिसे ब्रह्मानन्द कहा गया है।

२. गीता—

वाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोग युक्तात्मा सुखमक्षय मश्नुते॥ ५-२१॥

वाह्य विषयों अर्थात् सांसारिक भोगों से अनासक्त, अपनी आत्मा में ही सुखी रहने वाला पुरुष ब्रह्म के साथ मन को युक्त रखकर अक्षय आनन्द (अनन्त आनन्द) का अनुभव करता है अर्थात् ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है।

३. हठप्रदीपिका—

सोऽमेवास्तु मोक्षाख्यो मास्तु वापि मतान्तरे।
मनः प्राणालये कश्चिदानन्दः सम्प्रवर्तते ॥ ४–३० ॥

वह (प्राण और मन का लय) मतमतान्तर में मोक्ष नाम से ही कही जाने वाली वस्तु हो या न हो किन्तु यह सत्य है कि मन और प्राण के लय होने पर कोई अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति होती है।

सर्वज्ञ—

मन से ब्रह्म को धारण कर लेने पर अर्थात् ब्रह्म के साथ मन के स्थिर हो जाने पर व्यक्ति ब्रह्म को जान लेता है तथा सर्वज्ञ हो जाता है। इस सम्बन्ध में ऋषियों के कथन इस प्रकार हैं—

१. प्रश्नोपनिषद –

विज्ञानात्मा सहदेवैश्च सर्वैः
प्राण भूतानि सम्प्रतिष्ठन्ति यत्र।
तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य
स सर्वज्ञः सर्वमेवा विवेशित ॥ ४/११

जिस परमेश्वर में समस्त प्राण, पाँचो भूत, सभी इन्द्रियाँ तथा विज्ञान स्वरूप आत्मा आश्रय लेते हैं। उन अविनाशी परमात्मा को जो जान लेता है। वह सर्वज्ञ हो जाता है तथा पूर्णरूप से परमात्मा में प्रविष्ट हो जाता है अर्थात् आत्मा का परमात्मा में लय हो जाता है।

२. शिव संहिता—

सिद्धे विन्दौ महायत्ने किं न सिध्यति पार्वती।
ईशत्वं यत्प्रसादेन ममापि दुर्लभं भवेत् ॥

शिव जी कहते हैं—हे पार्वती ! विन्दु के सिद्ध हो जाने पर (ब्रह्म के एक अणु अर्थात् विन्दु के साथ मन के युक्त हो जाने पर)

क्या नहीं सिद्ध हो सकता अर्थात् सब सिद्ध हो जाता है। इसके प्रसाद से यह दुर्लभ ईशत्व हमको प्राप्त हुआ है। तात्पर्य है कि साधक पुरुष सर्वज्ञ हो जाता है।

३. कठोपनिषद –

एतद्धयेवाक्षरं ब्रह्म एतद्धयेवाक्षरं परमं।
एतद्धयेवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदि इच्छति तस्य तत् ॥ १–२–१६

यह अक्षर अर्थात् अविनाशी आत्मा ही ब्रह्म है तथा यही परम् ब्रह्म हैं। इसे जानकर साधक जो इच्छा करता है वह हो जाता है अर्थात् साधक सर्वज्ञ हो जाता है।

४. श्वेताश्वतरोपनिषद –

एतज् ज्ञेयं नित्यमेवात्म संस्थं
नातः परं वेदितव्य हि किंचित।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा
सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् ॥ १–१२

मनुष्य को अपने ही भीतर स्थित ब्रह्म को जानना चाहिये इससे बढ़कर कुछ जानने योग्य तत्व दूसरा नहीं है। भोक्ता (जीवात्मा) भोग्य (जड़ तत्व) तथा इनके प्रेरक परमात्मा ये तीनों ब्रह्म ही हैं। ऐसा जान लेने पर मनुष्य सब कुछ जान लेता है अर्थात् वह सर्वज्ञ हो जाता है।

उपर्युक्त सभी श्लोकों के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मन को ब्रह्म में लगाने या युक्त करने से ही ब्रह्म साक्षात्कार होता है। इसी को ब्रह्म साक्षात्कार या ईश्वर साक्षात्कार या आत्म साक्षात्कार कहा गया है। ब्रह्म का साक्षात्कार करके ब्रह्म को जान लेना ही ज्ञान कहलाता है। इसी को ब्रह्म ज्ञान अथवा आत्म ज्ञान भी

कहा गया है। इस अवस्था के प्राप्त हो जाने पर जीवात्मा का परमात्मा में लय हो जाता है। यही मोक्ष आवागमन से मुक्त अथवा जन्म-मरण से मुक्त अर्थात् पुर्नजन्म नहीं लेना पड़ता। इसी अवस्था को परमगति तथा परम शाश्वत पद का प्राप्त होना भी कहा गया है। ब्रह्म के साथ मन के युक्त होने पर साधक सब कुछ जान लेता है उसे कुछ जानना शेष नहीं रह जाता है। इसी अवस्था को सर्वज्ञ कहा गया है। अर्थात् साधक दिव्य दृष्टि प्राप्त अन्तर्यामी हो जाता है। उसके आशीर्वाद तथा वचन सत्य होने लगते हैं।

उपर्युक्त सभी अवस्थायें तथा गुण ब्रह्म को मन से धारण करने या युक्त करने पर ही प्राप्त होती हैं। अध्ययन अध्यापन से यह अवस्था प्राप्त करना संभव नहीं है। गुरु से ब्रह्मविद्या की दीक्षा प्राप्त कर इस वैज्ञानिक साधना पद्धति का अनुसरण कर लम्बे समय तक अभ्यास करने के बाद साधक मन को ब्रह्म से युक्त कर पाते हैं। इसका अत्यन्त श्रेष्ठ उदाहरण हैं कबीरदास। कबीरदास ने कागज छुआ नहीं और कलम हाथ में गई नहीं अर्थात् अध्ययन अध्यापन उनके द्वारा कभी हुआ ही नहीं। गुरु से दीक्षा प्राप्त कर मन को ब्रह्म के साथ युक्त करने में वे सफल हुए तथा उस अवस्था के सभी गुण उनको प्राप्त हुआ। ब्रह्म के साथ मन के युक्त होने पर जो अवस्थायें तथा गुण प्राप्त होते हैं उन सभी का वर्णन उन्होंने काशी की प्रचलित जनभाषा के काव्यों में मर्मभेदी तथा अति सुन्दर ढंग से साधना के अनुभवों का वर्णन किया है। भारतीय धर्मशास्त्रों में वर्णित ब्रह्मविद्या के अनुभवों का प्रारम्भ से लेकर अन्त तक भारतीय धर्मशास्त्रों में कदम-कदम पर जैसा हुआ है उसी के समानान्तर बिना पढ़े-लिखे कबीर द्वारा बड़े गूढ़ तथा सुन्दर ढंग से किया गया है।

ऋषियों की वाणी के समानान्तर कबीर के कथन—

उपर्युक्त श्लोकों के सन्दर्भ में उनकी वाणी भी समानान्तर रूप से व्यक्त की हुई है जो आश्चर्यजनक है तथा उनके उच्च योगी होने को प्रमाणित करती है। भारतीय धर्मशास्त्रों के समान ही कबीर ने भी कहा है कि मन को स्थिर करना है, स्थिर किये बिना ईश्वर का स्मरण होता नहीं। उनका कथन इस प्रकार है—

माला तो कर में फिरै जीभ फिरै मुख माहिं।
मनवा तो दहुँदिसि फिरै यह तो सुमिरन नाहिं॥

हाथ में माला फिरती रहती है, जीभ मुख में घूमती रहती है और मन दसो दिशाओं में घूमता रहता है, इस प्रकार यह ईश्वर का स्मरण नहीं हुआ।

मन के ब्रह्म में लगे रहने या ब्रह्म के साथ स्थिर होने या ब्रह्म के साथ युक्त होने को ही कबीर ने अपनी भाषा में 'प्रेम' कहा है। कबीर के एक दोहे से यह स्पष्ट हो जाता है जो निम्न प्रकार है—

प्रेम न बाड़ी उपजै, प्रेम न हाट बिकाय।
राजा प्रजा जेहि रूचै, शीश देइ लेइ जाय॥

यह 'प्रेम' न तो खेत में उपजता है और न बाजार में बिकता है। राजा या प्रजा, धनवान या निर्धन, स्त्री या पुरुष किसी भी जाति का हो शीश (माथा) अर्थात् अपना मन ईश्वर को समर्पित कर दे अर्थात् ईश्वर में मन लगा दे या स्थिर कर दे, वह इस 'प्रेम' को ले जाय अर्थात् प्राप्त कर सकता है। प्रेम (मन स्थिर होने की) की अवस्था प्राप्त होने पर उपर्युक्त सभी गुण तथा अवस्थायें ब्रह्म साक्षात्कार, ब्रह्मज्ञान, ब्रह्म में लय हो जाना, ब्रह्मानन्द तथा सर्वज्ञ की अवस्था

प्राप्त हो जाती है। कबीरदास के दोहों से यह स्पष्ट हो जाता है जिसका उदाहरण इस प्रकार है—

१. प्रेम (ध्यान) से ब्रह्मसाक्षात्कार तथा ब्रह्म में लय होने का उदाहरण—

जब मैं था तब तू न था तू पायो मैं नाय।
प्रेम गली अति साकरी तामें द्वै न समाय॥

कबीर के कहने का तात्पर्य है कि जब मैं ईश्वर का स्मरण करता था तब मैं था, ईश्वर का पता नहीं था परन्तु जब मन पूर्णरूप से स्थिर हो गया अर्थात् प्रेम हो गया तब आपको पाया, आपका साक्षात्कार हुआ। इसी के साथ मैं समाप्त हो गया अर्थात् आत्मा का परमात्मा में लय हो गया। प्रेम की गली इतनी सकरी है कि इसमें दोनों नहीं रह सकते अर्थात् मन के स्थिर हो जाने की अवस्था ऐसी है कि इसमें दोनों नहीं रह सकते। आत्मा का परमात्मा में लय हो जाना निश्चित है।

इसी प्रकार कबीरदास ने एक स्थान पर पुनः कहा गया है कि सद्गुरु से वैज्ञानिक विधि का प्राणायाम करने से आत्मा परमात्मा में मिल जाता है। कबीर का कथन इस प्रकार है—

कबीर धारा अगम की सतगुरु दई लखाय।
उलट ताहि सुमिरन करों स्वामी संग मिलाय॥

अगम अर्थात् आत्म ज्योति की धारा सुषुम्ना नाड़ी के रूप में सहस्त्रार चक्र से मूलाधार चक्र तक गई हुई है जो सतगुरु की कृपा से देखने को मिलती है उसी में नीचे ऊपर उलट कर आते जाते ध्यान लगाये रखने अर्थात् प्राणायाम करते रहने पर जगत के स्वामी (ईश्वर या ब्रह्म) के साथ मिल जाता है अर्थात् आत्मा का परमात्मा

में लय हो जाता है। यह अवस्था प्राप्त होती है ब्रह्म को मन से धारण करने पर।

२. प्रेम (ध्यान) से ज्ञान का होना –

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुवा पंडित भया न कोय।
ढ़ाई आखर प्रेम का पढ़ै सो पंडित होय॥

पुस्तकों को पढ़-पढ़ कर संसार भर के बहुत लोग इस दुनिया से चले गये परन्तु कोई पण्डित अर्थात् ज्ञानी नहीं हुआ। ढाई अक्षर प्रेम को जो पढ़ेगा वही पंडित अर्थात् ज्ञानी होगा।

कबीरदास जी कागज को छुये नहीं और कलम उनके हाथ में गई नहीं अर्थात् वे निरक्षर थे। परन्तु "प्रेम" (मन ईश्वर में लगा हुआ था) की अवस्था प्राप्त किये हुए थे अतः ज्ञानी थे। उनके कहने का तात्पर्य है कि जिन्होंने "प्रेम" (ब्रह्म को मन से धारण कर) कर लिया है वे ही वास्तव में ज्ञानी हैं।

भारतीय ऋषियों ने अध्ययन अध्यापन अर्थात् पुस्तकीय ज्ञान को ज्ञान नहीं माना है। ब्रह्मज्ञान या आत्मज्ञान को ही उन्होंने ज्ञान माना है। पुस्तकीय ज्ञान जितना भी हो ब्रह्मज्ञान से उसकी कोई तुलना नहीं है। भारतीय ऋषि ब्रह्मविद्या की वैज्ञानिक साधना के अभ्यास से मन को ब्रह्म में लगाते हुए स्थिर कर इस अवस्था अर्थात् ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करते थे। इस अवस्था को प्राप्त करने के बाद साधक सर्वज्ञ हो जाता है उसे कुछ जानना शेष नहीं रह जाता। किसी भी दिशा या क्षेत्र का ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता पड़ने पर ब्रह्मज्ञानी इच्छा करने पर सब कुछ जान लेते हैं।

यहां एक उदाहरण ले रहे हैं महायोगी श्यामाचरण लाहिड़ी का। एक सज्जन लाहिड़ी महाशय की प्रसिद्धि सुनकर उनकी परीक्षा लेने उनके पास आये। उन्होंने उनसे पूछने के लिये लगभग प्रन्द्रह प्रश्न एक कागज पर लिखकर रख लिया था कि इन्हीं प्रश्नों को पूछेंगे जिससे यह पता लग सकेगा कि वे किस अवस्था के योगी हैं।

लाहिड़ी महाशय से मिलने पर उन सज्जन से लाहिड़ी महाशय ने उनका पारिवारिक परिचय तथा कुछ अन्य तथ्यों के विषय में पूछने के बाद आध्यात्मिक विषय पर बोलते हुए बहुत से तथ्यों की जानकारी कराने लगे। लगभग एक घण्टे तक वे बोलते रहे। जब उन्होंने बोलना समाप्त किया तो वे सज्जन उनके चरणों में माथा रखकर नतमस्तक हो गये। आश्चर्य और रोमांच से उनकी आँखों में आँसू आ गया। कारण था कि जिन प्रश्नों को लिखकर वे सज्जन लाये थे उनकी चर्चा भी वे नहीं कर पाये थे परन्तु लाहिड़ी महाशय एक घण्टे तक जो कुछ बोले वह उनके सभी प्रश्नों का उत्तर था। यह अवस्था अध्ययन-अध्यापन से नहीं बल्कि वैज्ञानिक विधि की योग साधना से मन को ब्रह्म के साथ युक्त करने से होती है।

कबीरदास जी कहते हैं—"वे कहते कागज की लेखी, मैं कहता आंखियन की देखी"। वे पढ़े-लिखे नहीं थे परन्तु वैज्ञानिक विधि की साधना द्वारा मन को ब्रह्म के साथ स्थिर करके जो ज्ञान प्राप्त हुआ था उस आधार पर ही उनके सभी कथन हैं। उनके कथन धर्म-शास्त्रों के कथनों के सामान्तर मिलते हैं। कबीरदास जी एक दोहा में स्पष्ट कहते हैं—

यह लिखा लिखी की बात नहीं, देखा देखी की बात।
दुलहा दुलहिन मिल गये, फीकी पड़ी बरात॥

यह लिख पढ़कर अर्थात् अध्ययन-अध्यापन की विद्या नहीं है मन को स्थिर करने की साधना है जो प्रत्यक्ष देख सुनकर अनुभव से प्राप्त होती है। दुलहा दुलहिन मिल गये अर्थात् आत्मा का परमात्मा के साथ मिलन हो जाने पर ऐसे योगी के लिये अन्य धार्मिक कृत्यों को करने की आवश्यकता समाप्त हो जाती है।

ब्रह्म के साथ मन के स्थिर होने पर जो ज्ञान प्राप्त होता है उसी को ज्ञान माना गया है। हठ-प्रदीपिका में इसी तथ्य को निम्न प्रकार से कहा गया है—

यावन्नैव प्रविशति चरन् मारुतो मध्य मार्गे
यावद्बिन्दुर्न भवति दृढ़ः प्राणवात प्रबन्धात्।
यावद्ध्याने सहज सदृशं जायते नैव तत्वम्
तावज्ज्ञानं वदति तदिदं दम्भ मिथ्या प्रलापः॥

हठप्रदीपिका—चतुर्थ उपदेश-११४

जब तक मध्य मार्ग अर्थात् सुषुम्ना में (इड़ा पिंगला नाड़ी के मध्य सुषुम्ना नाड़ी होती है) प्राणवायु प्रविष्ट नहीं होता तथा प्राणवायु के नियन्त्रण से मन विन्दु (ब्रह्म के एक अणु) के साथ स्थिर नहीं होता और परम तत्व अर्थात् ब्रह्म का ध्यान करने से साक्षात्कार नहीं हो जाता तब तक ज्ञान की बात करना दम्भ और मिथ्या प्रलाप है।

ब्रह्म को मन से धारण करने से ही ज्ञान या ब्रह्मज्ञान की अवस्था प्राप्त होती है।

३. प्रेम (ध्यान) से ब्रह्मानन्द का अनुभव -

ब्रह्म के साथ मन के स्थिर होने को कबीरदास ने "प्रेम" कहा है और उस अवस्था में जिस आनन्द की अनुभूति होती है अर्थात् ब्रह्मानन्द उसे कबीर ने प्रेम रस कहा है। प्रेम की अवस्था उत्पन्न होने पर ब्रह्मानन्द के अनुभव की चर्चा करते हुए कबीर कहते हैं—

पीया चाहे प्रेम रस राखा चाहै मान।
एक म्यान में दो खड्ग देखा सुना न कान।।

प्रेम रस (ब्रह्मानन्द) का आनन्द प्राप्त करना चाहते हैं और मान बनाये रखना चाहते हैं अर्थात् इच्छायें कामनायें भी बनाये रखना चाहते हैं यह संभव नहीं है। जिस प्रकार एक म्यान में दो तलवार नहीं रखा जाता उसी प्रकार इन इच्छाओं कामनाओं के बने रहते प्रेम रस (ब्रह्मानन्द) प्राप्त नहीं हो सकता। भारतीय धर्मशास्त्र भी यही कहते हैं कि जब तक कामनायें इच्छायें बनी रहेंगी ब्रह्मानन्द का अनुभव संभव नहीं है।

ब्रह्म को मन से धारण करने पर ही ब्रह्मानन्द की अवस्था प्राप्त होती है अर्थात् कबीर का कथन धर्मशास्त्रों के समानान्तर ही है।

४. सर्वज्ञ की अवस्था प्राप्त होने का कथन -

एकै साधे सब सधै, सब साधे सब जाय।
जो तूँ सीचो मूल को, फूले फले अघाय।।

सत्य, अहिंसा, दया, उपकार, दान तथा यम नियम आदि इन सभी को यदि साधने का प्रयास किया जाय तो ये सधने वाले नहीं हैं

परन्तु केवल इस मन को साध लिया जाय अर्थात् ब्रह्म के साथ स्थिर कर दिया जाय तो सभी सध जायेंगे। मूल को सींचो अर्थात् इस मन को मूल (ब्रह्म) में लयाये रखें। तात्पर्य है ब्रह्म के साथ मन स्थिर कर दें तो जो भी इच्छा करें सब प्राप्त होगा अर्थात् व्यक्ति सर्बज्ञ हो जायेगा।

सिन्धु में विन्दु समाया यह सब जग जानत होय।
विन्दु में सिन्धु समाया यह रहस्य बिरला जाने कोय॥

एक एक बूंद पानी से समुद्र बना है। यह संसार के सभी लोग जानते हैं परन्तु एक बूँद में ही पूरा समुद्र समाया हुआ है। इस रहस्य को विरला (पूरे मानव समुदाय में से कोई एक) कोई जान पाता है।

तात्पर्य है कि ब्रह्म के एक एक अणुओं से विश्व ब्रह्माण्ड की रचना है परन्तु इस एक ब्रह्माणु में पूरे विश्व ब्रह्माण्ड का रहस्य छिपा हुआ है। यह विरला ही कोई जान पाता है। इस ब्रह्म के एक अणु के साथ जिसका मन युक्त हो जाता है या मन से ब्रह्माणु को धारण कर लेता है वही इस रहस्य को जान पाता है। इस अवस्था को जिन शब्दों से सम्बोधित किया गया है वे इस प्रकार हैं—राजयोग, समाधि, ब्रह्म साक्षात्कार, ब्रह्म ज्ञान, ब्रह्म में लय, मनोन्मनी, परम शान्ति, परम गति, शाश्वत पद, अमरत्व, ब्रह्मानन्द तथा दिव्य दृष्टि प्राप्त, अन्तर्यामी, सर्वज्ञ आदि। ये सभी एक ही अवस्था के सूचक हैं।

इस तथ्य को हठप्रदीपिका में स्पष्ट रूप से चतुर्थ उपदेश के तीसरे व चौथे श्लोक में कहा गया है।

उपर्युक्त सभी श्लोकों तथा तथ्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह ब्रह्म विद्या अध्ययन-अध्यापन की नहीं है। यह क्रियात्मक साधना है। ब्रह्म विद्या की वैज्ञानिक साधना के अभ्यास द्वारा व्यक्ति मन को ब्रह्म से युक्त करने में सफल होता है या मन से ब्रह्म को धारण करने में सफल होता है। इस अवस्था में ही ब्रह्म साक्षात्कार या ब्रह्मज्ञान होता है। ब्रह्मज्ञान से तात्पर्य है कि वर्तमान मनुष्य जन्म के पूर्व तथा निधन के पश्चात् स्वरूप से अवगत होता है तथा विश्व ब्रह्माण्ड को नियमित नियन्त्रित व संचालित करने वाली चेतन सत्ता को जान लेता है। मनुष्य जन्म का चरम कर्त्तव्य क्या है यह तभी पता चलता है जब उस चेतन सत्ता या ब्रह्म को जान लेने में सफल होते हैं और तब अपने चरम कर्त्तव्य को जिसे ही मोक्ष, परम पद, परम गति शाश्वत पद आदि कहा गया है, प्राप्त कर लेते हैं। अतः मनुष्य जन्म का चरम कर्त्तव्य है ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लेना अर्थात् चेतन सत्ता का साक्षात्कार कर लेना। यह अवस्था प्राप्त होती है मन से ब्रह्म को धारण करने से और इसी को मनुष्य जन्म का धर्म कहा गया है। धर्म की यही परिभाषा भी दी गयी है। जैसे—"सा धारेति इति धर्मः" मन से ब्रह्म को धारण करना ही धर्म है।

भारतीय ऋषि परम्परा में महाभारत के रचयिता कृष्ण-द्वैपायन व्यास का स्थान सर्वोपरि ऋषियों में एक है। उनके विषय में कहा गया है कि वे विशाल बुद्धि वाले ऋषि थे।

□

सर्वश्रेष्ठ धर्म के विषय में व्यास जी के उपदेश

महाभारत के शान्तिपर्व में व्यास जी ने अपने पुत्र शुकदेव को सर्वश्रेष्ठ धर्म का उपदेश दिया है जो इस प्रकार है --

व्यास जी के पुत्र शुकदेव ने पिता जी से पूछा कि आपने सभी धर्मों का वर्णन किया है परन्तु अब हम उस धर्म को जानना चाहते हैं जो मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ धर्म है जिससे बढ़कर दूसरा धर्म नहीं है।

व्यास जी ने कहा -बेटा, मैं ऋषियों के बतलाए हुए प्राचीन धर्म का जो सब धर्मों में श्रेष्ठ है, वर्णन करता हूँ तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो। जैसे पिता अपने छोटे बच्चों को काबू में रखता है उसी प्रकार मनुष्य को बुद्धि के बल से अपनी प्रमथनशील इन्द्रियों का यत्नपूर्वक संयम करना चाहिये। मन और इन्द्रियों की एकाग्रता ही सबसे बड़ी तपस्या है। यही सबसे श्रेष्ठ धर्म है। मन सहित इन्द्रियों को बुद्धि में स्थापित करके अपने आप में ही संतुष्ट रहे, नानाप्रकार के चिन्तनीय विषयों का चिन्तन न करे, जिस समय ये इन्द्रिया अपने विषयों से हटकर बुद्धि में स्थित हो जायेंगी उसी समय तुम्हें सनातन परमात्मा का दर्शन होगा।

तात्पर्य है 'सा धारेति इति धर्मः' अर्थात् ब्रह्म को मन से धारण कर लेने से ही परमात्मा का दर्शन होता है और यही मनुष्य का का धर्म है। धूम्ररहित अग्नि के समान देदीप्यमान वह परमेश्वर ही सबकी आत्मा और परम महान है ही महात्मा ब्राह्मण ही उसे देख पाते हैं। पुरुष जलते हुए ज्ञानमय प्रदीप के द्वारा अपने अन्तःकरण में ही आत्मा का दर्शन करता है। शुकदेव ! तुम भी इसी प्रकार आत्मा का साक्षात्कार करके सर्वज्ञ हो जाओ।

उत्तम बुद्धि का आश्रय लेकर सब प्रकार के सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो जाओगे और प्रसन्नचित्त होकर ब्रह्म भाव को प्राप्त होगे। उस अवस्था में तुम्हें समस्त प्राणियों की उत्पत्ति और प्रलय का स्पष्ट दर्शन होगा। धर्मात्माओं में श्रेष्ठ एवं तत्वज्ञानी मुनियों ने संसार सागर से पार होने के साधन को ही सर्वश्रेष्ठ धर्म माना है। बेटा ! यह मैंने तुमसे सर्वव्यापी परमात्मा के ज्ञान का साधन बतलाया है जो कोई परम पवित्र, हितैषी और भक्त हो उसी को इसका उपदेश करना चाहिये। यह परम गोपनीय गूह्य ज्ञान आत्मा का दर्शन कराने वाला है इसका स्वयं ही अनुभव करना चाहिये वह परम ब्रह्म परमात्मा दुःख सुख से परे और भूत भविष्य का कारण है। वह न स्त्री है न पुरुष और न नपुंसक ही है। कोई स्त्री हो या पुरुष जो उस ब्रह्म को जान लेता है, उसका संसार में पुनर्जन्म नहीं होता। मोक्ष की सिद्धि के लिये ही इस आत्मज्ञान-रूपी धर्म का उपदेश किया जाता है। बेटा ! सब प्रकार के मतों ने इस विषय का जैसा प्रतिपादन किया है उसके अनुकूल ही मैंने भी वर्णन किया है। आगे उन्होंने कहा है — जो मनुष्य आत्मा को इस शरीर में रहते हुए ही जान लेते हैं वे परमशांति को प्राप्त होते हैं। जो उत्पत्ति और विनाश से रहित संस्कार शून्य स्वभाव सिद्ध तथा शरीर के भीतर स्थित हैं उस ब्रह्म को प्राप्त होने वाला मनुष्य ही अक्षय आनन्द का भागी होता है। अपने मन को इधर-उधर जाने से रोककर आत्मा में स्थापित करने से पुरुष को जिस सुख और सन्तोष की प्राप्ति होती है उसका और किसी उपाय से प्राप्त होना असम्भव है।

व्यास जी के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट होता है कि मन को आत्मा या ब्रह्म में लगा देना या स्थिर कर देना ही सर्वश्रेष्ठ धर्म

है। ब्रह्म में मन स्थिर करने या धारण करने से ही ब्रह्म साक्षात्कार ब्रह्म ज्ञान, मोक्ष, अमरत्व, आनन्द तथा सर्वज्ञ आदि जो एक दूसरे के वाचक हैं की अवस्था प्राप्त होती है।

—:o:—

विज्ञान के आलोक में धर्म–

प्राचीन काल में ही भारतीय ऋषियों की यह मान्यता रही है कि "प्रमाणाभावे ईश्वरासिद्धये" अर्थात् कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है जिससे ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध किया जा सके। आधुनिक विज्ञान भी अपने ढंग से आत्मा अथवा चेतनसत्ता की खोज में प्रयासरत है परन्तु अपने प्रारम्भिक काल से आज तक अर्थात् १५० वर्षों के अथक प्रयास के बाद भी उसे कोई सफलता मिली नहीं है समाचार पत्र तथा पत्रिकाओं के माध्यम से जो जानकारी मिली है उसके अनुसार विज्ञान ने चार दिशा में प्रयास किये हैं आत्मा या चेतनसत्ता को देखने (साक्षात्कार) या सम्पर्क करने, आत्मा को पकड़ने का और आत्मा को बनाने का। परन्तु किसी भी दिशा में कोई सफलता मिली नहीं है। यहाँ तक कि आज तक आत्मा या चेतना के अस्तित्व के होने या न होने का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण भी नहीं मिला है। अग्नि प्रत्यक्ष दिखाई पड़ती हो परन्तु धुएँ को देखकर अनुमान से यह निश्चय हो जाता है कि वहाँ अग्नि है इसे अनुमान प्रमाण कहा गया है। आत्मा या चेतनसत्ता के अस्तित्व का कोई प्रत्तक्ष प्रमाण न मिलने के बाद भी अनुमान प्रमाण के आधार पर विश्व विख्यात वैज्ञानिक उसके अस्तित्व को स्वीकार करते हैं।

(पुस्तक देखें–'योग एवं एक गृहस्थ योगी')

वैज्ञानिकों को भौतिकी की प्रत्येक क्षेत्र में आश्चर्यजनक सफलता मिली है और इस क्षेत्र में नित नये आविष्कारों के साथ प्रगति के पथ पर निरन्तर अग्रसर है, परन्तु चेतनसत्ता से साक्षात्कार, सम्पर्क पकड़ने या बनाने के क्षेत्र में किसी भी प्रकार

की कोई भी सफलता नहीं मिली है। अन्तर्यामी दिव्य-दृष्टि प्राप्त भारतीय ऋषियों का स्पष्ट कथन है कि कोई भौतिक विधा नहीं है जिससे उसका साक्षात्कार या सम्पर्क किया जा सके।

पूज्य गुरूदेव सत्यचरण लाहिड़ी जी ने वेद उपनिषद के श्लोकों के साथ जिन तथ्यों से अवगत कराया उन्हें देखते हुए यह निश्चित है कि भविष्य में इस क्षेत्र में इन वैज्ञानिकों को कोई सफलता मिलेगी भी नहीं। अर्थात् भौतिक विधा से चेतन सत्ता या ब्रह्म से साक्षात्कार में कभी कोई सफलता नहीं मिलेगी। ऐसा इसलिये नहीं कि वैज्ञानिकों के विवेक या पुरुषार्थ में कोई कमी है बल्कि इसलिये कि कोई रास्ता है ही नहीं।

वैज्ञानिक विधि अर्थात् भौतिक विधि से यदि कभी आत्मा या चेतनसत्ता के अस्तित्व का प्रत्यक्ष प्रमाण प्रस्तुत हो सका और उससे साक्षात्कार या किसी प्रकार का सम्पर्क हो सका तो इस पृथ्वी पर मनुष्य द्वारा प्राप्त की गई सभी उपलब्धियों में यह सर्वोपरि उपलब्धि होगी। प्राचीन काल में किसी समय विकसित मानव सभ्यता इसी आत्मा या चेतनसत्ता या ब्रह्म से साक्षात्कार करने में सफल हुई थी परन्तु यह सफलता भौतिक विधि से नहीं बल्कि अध्यात्मिक विधि से हुई थी जिसे ब्रह्मविद्या या योगविद्या कहते हैं। इस विद्या से भारतीय धर्मशास्त्र भरे पड़े हैं। ईश्वर की यह देन है कि उस आत्मा या चेतनसत्ता से साक्षात्कार केवल मनुष्य शरीर से सम्भव है। चेतनसत्ता से साक्षात्कार के लिये किसी वाह्य वस्तु की सहायता नहीं ली जा सकती। मनुष्य शरीर एक स्व संचालित यन्त्र है। ब्रह्म साक्षात्कार के लिये सभी परिस्थितियाँ मनुष्य शरीर के भीतर उपलब्ध हैं। मनुष्य शरीर की बनावट ऐसी है कि

आत्मा या ब्रह्म को मन से धारण करने पर ब्रह्म साक्षात्कार होता है और इसी के साथ परम आनन्द, ब्रह्म ज्ञान, ब्रह्म में लय, मोक्ष तथा सर्वज्ञ की अवस्था स्वतः प्राप्त हो जाती है। मनुष्य शरीर की इस बनावट के कारण ही ऋषियों ने कहा है कि मनुष्य का चरम कर्तव्य है कि वह ब्रह्म का साक्षात्कार कर ले। इसी को यदि वैज्ञानिक भाषा में कहा जाय तो यही कहा जायेगा कि विश्व ब्रह्मांड का प्रत्येक अणु परमाणु जिस चेतनसत्ता द्वारा नियमित नियन्त्रित एवं संचालित है उससे सम्पर्क या साक्षात्कार कर लेना ही मनुष्य की सर्वोपरि उपलब्धि होगी। अतः चेतनसत्ता का साक्षात्कार कर लेना मनुष्य का चरम कर्तव्य है और यही मनुष्य का धर्म है।

काशी हिन्दू विश्व विद्यालय में कृषि कालेज का मैं छात्र था यहाँ से मैंने बी. एस. सी. (कृषि) एवं एम. एस. सी. (कृषि रसायन) से किया है। इस कालेज के ठीक सामने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का केन्द्रीय पुस्तकालय है। यहाँ एक शिला पट्ट पर महामना पंडित मदन मोहन मालवीय ने किसी मनीषी द्वारा उद्धृत यह वाक्य अंकित करा दिया है कि "विज्ञान का जहाँ अन्त होता है धर्म का वहीं से प्रारम्भ है"। पत्थर पर लिखा यह वाक्य सदैव पत्थर की लकीर बना रहेगा।

उपर्युक्त वाक्य का तात्पर्य है कि भौतिक विज्ञान को नये-नये आविष्कार करते हुए सभी क्षेत्रों में सफलता मिलती रहेगी परन्तु चेतन-सत्ता से साक्षात्कार या सम्पर्क करने में उसे कोई सफलता नहीं मिलेगी। अर्थात् विज्ञान की क्षमता का यही अन्त है। जिस रास्ते से चेतनसत्ता का साक्षात्कार किया जा सकता है उसी को धर्म कहते हैं अर्थात् विज्ञान का जहाँ अन्त होता है धर्म का वहीं से

प्रारम्भ है। धर्म ढोंग, पाखंड या अतर्क सम्मत नहीं बल्कि एक तर्क सम्मत एवं विज्ञान सम्मत मार्ग है। गीता के सातवें अध्याय के दूसरे श्लोक में भगवान श्री कृष्ण ने अर्जुन को सम्बोधित करते हुए कहा है कि यह ज्ञान जो मैं तुम्हें बता रहा हूँ यह विज्ञान सहित है जिसको जानकर तुम मोक्ष प्राप्ति अर्थात् ब्रह्म साक्षात्कार कर सकोगे।

धर्म विज्ञान की वह शाखा है जिसपर चलकर मनुष्य उस चेतन सत्ता का साक्षात्कार करने में सफल होता है जिस लक्ष्य तक भौतिक विज्ञान पहुँचाने में असमर्थ है अर्थात् इसका अन्त हो गया है उसी लक्ष्य तक पहुँचने के मार्ग का नाम धर्म है।

जिस दिन भौतिक विज्ञान चेतन सत्ता से सम्पर्क या साक्षात्कार करने में सफल होगा उस दिन इस धरती पर अब तक की मानव की सर्वोपरि उपलब्धि होगी और उस दिन से अनेक पंथों में फैला हुआ विश्व भर का धर्म स्वतः समाप्त होने लगेगा, धर्म और धार्मिक कृत्यों की आवश्यकता समाप्त हो जायेगी। परिणामस्वरूप धरती पर धर्म रह नहीं जायेगा। प्रश्न उठता है कि क्या ऐसा होगा? अन्तर्यामी दिव्य दृष्टि प्राप्त भारतीय ऋषियों के कथन तथा अन्य जिन तथ्यों से योगिराज सत्यचरण लाहिड़ी जी ने अवगत कराया उसे देखते हुए यह निश्चय के साथ कहा जा सकता है कि ऐसा कभी नहीं होगा। धर्म को नष्ट करने का प्रयास अनेकों बार हो चुका है परन्तु धर्म है और युग-युग तक रहेगा। भौतिक विज्ञान चेतन सत्ता का साक्षात्कार या सम्पर्क करे या न करे। परन्तु वह इसका ही प्रत्यक्ष प्रमाण प्रस्तुत करे कि चेतन तत्ता का अस्तित्व नहीं है और जब तक ऐसा भी नहीं हो जाता धर्म को ढोंग, पाखंड

बेतुका, अतार्किक तथा अवैज्ञानिक कहकर उसको उपेक्षित करना या नकारना अनाधिकार चेष्टा है।

विश्वभर के धर्म का आधार एक है और विज्ञान सम्मत है। इसमें सन्देह नहीं कि धर्म में बहुत सी बुराइयाँ अर्थात् ढोंग, पाखंड, तथा रूढ़ियों का प्रवेश हो गया है परन्तु इसके कारण धर्म के मूल आधार को नकारा नहीं जा सकता। हम यहाँ एक उदाहरण ले रहें हैं कि देश के किसी स्थान पर आये भूकम्प या बाढ़ पिड़ित लोगों की सहायता के लिये देश की सरकार द्वारा प्रचुर धनराशि भेजी जाती है परन्तु प्रायः सुनने को मिलता है कि धनराशि का का बड़ा भाग वितरण करने वाले कर्मचारी हड़प लेते हैं। वास्तव में जो पिड़ित हैं उन्हें उपयुक्त सहायता नहीं मिल पाती है। इसके लिये देश के सरकार की सहायतार्थ योजना को अनुपयुक्त या अनुचित नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार भारतीय ऋषियों द्वारा प्रतिपादित धर्म के मूल आधार एवं सिद्धान्तों को दोष नहीं दिया जा सकता। धर्म के भीतर ढोंग, पाखंड तथा रूढ़ियाँ काफी प्रवेश कर गई हैं इसे योगिराज सत्यचरण लाहिड़ी जी भी स्वीकार करते थे। आज के आधुनिक युग में धर्म के वैज्ञानिक स्वरूप को प्रत्यक्ष करने तथा इन बुराइयों को दूर करने की बड़ी आवश्यकता है ताकि धर्म के प्रति फैला भ्रम दूर हो सके।

卐

भारतीय ऋषियों के अनुसार धर्म की परिभाषा—

अनन्त ब्रह्मांड में यह पृथ्वी एक बूंद के समान है, अरबों, खरबों वर्ष के बीच मनुष्य का जीवन मात्र लगभग सौ वर्ष का होता है। जीवन भर में कठिन परिश्रम से प्राप्त भौतिक उपलब्धियों का निधन के पश्चात् कोई महत्व नहीं रह जाता क्योंकि कोई भौतिक उपलब्धि उसके साथ नहीं जाती। गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है कि–

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्त मध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना।।

तात्पर्य यह है कि मनुष्य अपने जन्म के पूर्व अव्यक्त रहता है बीच में व्यक्त होता है और निधन के बाद पुनः अव्यक्त हो जाता है। अतः मनुष्य को भौतिक उपलब्धियों एवं सुखों के लिए शोक करने को कोई आवश्यकता नहीं है। उसे अपने अव्यक्त स्वरूप अर्थात् चेतन सत्ता या ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेना चाहिये। ब्रह्म साक्षात्कार कर लेना ही मनुष्य का धर्म है और यह अवस्था प्राप्त होती है ब्रह्म को मन से धारण करने पर। धर्म शब्द धृ धातु से बना है जिसका अर्थ होता है धारण करना अर्थात् ब्रह्म को मन से धारण करना ही धर्म है।

धर्म एक है उसकी जितनी भी परिभाषायें दी गई हैं सभी एक ही अवस्था की सूचक है। इसकी अभिव्यक्ति बहुत प्रकार से हुई है परन्तु तात्पर्य सभी का एक ही है। भारतीय ऋषियों के द्वारा धर्म की पाँच परिभाषाओं को ले रहें हैं। ये परिभाषायें संस्कृत के भिन्न-भिन्न वाक्यों में लिखी गई हैं परन्तु इनका तात्पर्य एक ही है जो उपर्युक्त भाव को ही व्यक्त करती है।

प्रथम परिभाषा—

यतोभ्युदयः निः श्रेयस सिद्धिश्च असौ धर्म ।

वैरोणिक दर्शन–२

जिसके द्वारा अभ्युदय होता है एवं अत्यन्तिक कल्याण होता है उसे धर्म कहते हैं।

तात्पर्य है कि जिन कर्मों के करने से मनुष्य के भीतर उन गुणों अथवा संस्कार का विकास होता है जिससे अत्यन्तिक कल्याण अर्थात् जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति होती है उसे धर्म कहते हैं। जैसे सत्य, अहिंसा, दया, दान, परोपकार तथा कृतज्ञता आदि मानवीय तथा नैतिक कर्तव्य। मनुष्य को जन्म से जो स्वभाव या संस्कार प्राप्त होता है उसमें इन मानवीय तथा नैतिक गुणों के और विकसित होने की आवश्यकता होती है, तथा ये विकसित होते हैं ईश्वर के प्रति श्रद्धा भक्ति से समर्पित होने पर या धार्मिक कृत्यों को करने पर। जिस अनुपात में मन ईश्वर के प्रति समर्पित होता है उसी अनुपात में इन मानवीय गुणों या संस्कार का विकास भी होता है। ये मानवीय तथा नैतिक गुण या संस्कार ही वह ऊर्जा है जिससे मनुष्य अपने जन्म के अत्यन्तिक कल्याण (जीवन के चरम लक्ष्य) को प्राप्त करता है। अर्थात् ब्रह्म में मन स्थिर करने या ब्रह्म को मन से धारण करने में सफल होता है। ब्रह्म को मन से धारण करने का ही परिणाम है ब्रह्म साक्षात्कार, ब्रह्मज्ञान, मोक्ष, परमगति, परम शाश्वत पद, अमरत्व, ब्रह्मानन्द तथा सर्वज्ञ आदि की अवस्था को प्राप्त करना जो मूल में एक ही अवस्था के वाचक हैं।

द्वितीय परिभाषा—

आहृ देवा वैं क्षयो देवेभ्य एव यज्ञ प्राहृ प्रेतिरासि ।
धर्म्मा यत्वा धर्म जिन्वेत्याहृ मनुष्य वै धर्मे ॥
(कृष्ण यजुर्वेद संहिता)

जिस कर्म द्वारा मानव उन्नति की ओर अभिमुख हो वही धर्म है ।

तात्पर्य है कि जिस कर्म से मनुष्य के अन्दर उस संस्कार अर्थात् मानवीय तथा नैतिक गुणों का विकास होता है जिससे वह अपने चरम लक्ष्य (ब्रह्म साक्षात्कार) को प्राप्त करता है वही धर्म है ।

तृतीय परिभाषा –

धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मेण विधृताः प्रजाः ।
यस्मात् धारण संयुक्तं स धर्म इत्युच्यते ॥
(महाभारत)

धारण करने को धर्म कहा जाता हैं, धर्म के द्वारा प्रजा का संरक्षण होता है । जिसके द्वारा धारण करने से युक्त (परिपूर्ण या सम्पन्न) होता है वह धर्म कहा जाता है ।

तात्पर्य है कि ईश्वर या ब्रह्म को मन से धारण करना ही धर्म है । ईश्वर या ब्रह्म में मन लगाने से मनुष्य के भीतर की अमानवीय एवं अनैतिक मनोवृत्ति का नाश तथा मानवीय एवं नैतिक (अहिंसा, सत्य, दया, दान, परोपकार, चोरी न करना, मन, बचन, कर्म से पवित्र रहना, धैर्य धारण करना आदि) गुणों का विकास होता है । इन गुणों से युक्त मानव समुदाय द्वारा उत्तम समाज की स्थापना

होती है अन्यथा धर्थ विहीन समाज जो अनैतिकता, झूठ फरेब, छल कपट, भ्रष्टाचार आदि से युक्त होगा वह मानव समाज न कहला कर पिशाचों का जमघट कहलायेगा। तात्पर्य है कि धर्म से ही प्रजा अर्थात् समाज का संरक्षण होता है। जिस कर्म के करने से मनुष्य ब्रह्म को मन से धारण करने में सफल होता है उसे धर्म कहते हैं। इसीलिए सभी मानवीय तथा नैतिक कर्तव्यों को भी धर्म कहा जाता है क्योंकि ब्रह्म को मन से धारण करने में ये मुख्य सहायक हैं इसके बिना यह अवस्था प्राप्त करना सम्भव नहीं है।

चतुर्थ परिभाषा—

"अयं तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्"।

योग (वैज्ञानिक विधि) के द्वारा आत्म दर्शन प्राप्त करना ही परम धर्म है।

तात्पर्य है कि चंचल मन को योग की वैज्ञानिक विधि की साधना करते हुए मन को आत्मा या ब्रह्म के साथ युक्त (धारण) करना चाहिये। आत्मा या ब्रह्म के साथ मन के युक्त या धारण करने पर आत्म साक्षात्कार (आत्मदर्शन) या ब्रह्म साक्षात्कार होता है। यह अवस्था प्राप्त कर लेना ही मनुष्य का परम धर्म है।

पाँचवीं परिभाषा—

"धारयते सो धर्मः"

धारण करना ही धर्म है। प्रश्न उठता है किसको धारण करना है और कौन धारण करता है। उपर्युक्त का तात्पर्य है "ब्रह्म को मन से धारण करना ही धर्म है"।

अथवा

"सा धारेति इति धर्मः"

सा (ब्रह्म) को मन से धारण करना ही धर्म है।

निष्कर्ष—

उपर्युक्त सभी परिभाषाओं का निष्कर्ष है कि भारतीय ऋषियों ने धर्म की जो परिभाषा दिया है उसमें बहुत स्पष्ट तथा निश्चय के साथ वे कहते हैं कि यही धर्म है जैसे– (१) असौ धर्मः (२) वै धर्मः (३) स धर्म इत्युच्यते (४) परमो धर्मः (५) सो धर्मः (६) इति धर्मः। इन परिभाषाओं के वाक्य भिन्न-भिन्न होते हुए भी सभी का मूल भाव एक ही है। धर्म की अवस्था को भी भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा व्यक्त किया गया है परन्तु सभी एक ही अवस्था के वाचक हैं जैसे ब्रह्म साक्षात्कार, आत्म साक्षात्कार, ब्रह्म ज्ञान तथा आत्म ज्ञान आदि। जिस प्रकार भारत, हिन्दुस्तान तथा इण्डिया ये तीन शब्द होते हुए भी इनके सम्बोधन से एक ही देश का बोध होता है। इसके अतिरिक्त और भी बहुत से शब्द या वाक्य बन सकते हैं जिससे इसी देश का बोध होता है जैसे – (१) वह देश जिसे महात्मा गाँधी ने अहिंसा का मार्ग अपना कर स्वतन्त्र कराया (२) वह देश जिसके प्रथम प्रधानमन्त्री पंडित जवाहर लाल नेहरू हुए। (३) वह देश जिसकी राजधानी दिल्ली है। आदि।

भिन्न-भिन्न ऋषियों ने धर्म की अवस्था को विभिन्न शब्दों तथा वाक्यों में व्यक्त किया है जो इस प्रकार है – (१) ब्रह्म साक्षात्कार की अवस्था प्राप्त कर लेना ही मनुष्य का धर्म है। (२) ब्रह्म ज्ञान की अवस्था प्राप्त कर लेना ही मनुष्य का धर्म है (३) ब्रह्म में लय होनेकी अवस्था प्राप्त कर लेना ही मनुष्य का धर्म है। इसी प्रकार

ईश्वर साक्षात्कार, आत्म साक्षात्कार, ब्रह्म साक्षात्कार, ज्ञान, ब्रह्म ज्ञान, आत्मज्ञान, ब्रह्म में लय, मोक्ष, परमपद, उन्मनी, मनोन्मनी, राजयोग, परमगति, परम शाश्वत पद, परम शान्ति पद, अमरत्व, शून्याशून्य, अमनस्क, अद्वैत, निरालम्ब, निरञ्जन, जीवन मुक्ति, सहजा तथा तुर्या आदि को सम्बोधित करते हुए धर्म की परिभाषा दिया जा सकता है कि उपर्युक्त अवस्था को प्राप्त करना ही मनुष्य का धर्म है। ये सब एक अर्थ के वाचक हैं। इन सभी का तात्पर्य एक अवस्था प्राप्त करना अर्थात् ब्रह्म को मन से धारण करना ही होता है। ये सब किसी दूसरी अवस्था के सूचक नहीं हैं।

इस तथ्य का उल्लेख हठप्रदीपिका में इस प्रकार किया गया है-

राजयोगः समाधिश्च उन्मयी च मनोन्मनी।
अमरत्वं लयस्तत्वं शून्याशून्यं परं पदम्॥ ३
अमनस्कं तथा द्वैतं निरालम्बं निरञ्जनम्।
जीवनमुक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येकवाचकाः॥ ४

(चतुर्थ उपदेश)

राजयोग, समाधि, उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व, लयतत्त्व, शून्याशून्य, परम पद, अमनस्क, अद्वैत, निरालम्ब, निरञ्जन, जीवनमुक्ति, सहजा तथा तुर्या ये सब एक अर्थ (अवस्था) के वाचक हैं।

धर्म के दश लक्षण—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम् ॥
—मनुस्मृति

धृति, क्षमा, मनोनिग्रह, चोरी न करना, पवित्रता, इन्द्रिय संयम, बुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोध ये धर्म के दस लक्षण हैं।

जिन महान पुरुषों ने धर्म की अवस्था प्राप्त कर लिया है अर्थात् जिन्हें ब्रह्म साक्षात्कार या ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो गया है उनके ये लक्षण हैं। परन्तु यह समझना कि इन लक्षणों को अपने भीतर विकसित कर मनुष्य धर्म की अवस्था ब्रह्म साक्षात्कार या ब्रह्मज्ञान प्राप्तकर लेगा यह एक भ्रम है। इन लक्षणों में से किसी एक को भी पूर्ण रूप से धारण कर लेना संभव नहीं है। इनमें से किसी एक को भी लें जैसे—सत्य को, तो सभी को यह अनुभव होगा कि कुछ समय तक तो उसका पालन करना संभव है। परन्तु कुछ समय पश्चात् वह विफल हो जाता है।

इसी तथ्य को कबीरदास जी ने बड़े स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार कहा है—

एकै साधे सब सधै, सब साधे सब जाय।
जो तूँ सींचो मूल को फूले फले अघाय ॥

उपर्युक्त सभी लक्षणों (धृति, क्षमा, मनोनिग्रह तथा सत्य आदि) को साधने का प्रयास किया जाय तो सभी सधेंगे भी नहीं और पूरा जीवन व्यतीत हो जायेगा। परन्तु केवल इस मन को साध लिया जाय अर्थात् मन से ब्रह्म को धारण कर लिया जाय या मन को

ब्रह्म में लगा दिया जाय या स्थिर कर दिया जाय तो सभी सध जायेंगे। तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त लक्षण विकसित हो जायेंगे। इच्छा करने पर उसकी सभी कामनायें पूर्ण हो जाती है, अर्थात् अव्यक्ति सर्वज्ञ हो जाता हैं। इस अवस्था को ही धर्म कहा गया है।

तात्पर्य है कि धर्म की अवस्था प्राप्त होने पर उस अवस्था के ये लक्षण हैं। यह संभव नहीं है कि इन लक्षणों को धारण करके कोई धर्म की अवस्था प्राप्त कर लेगा। धर्म की अवस्था तो प्राप्त होती है—"मन से ब्रह्म को धारण करने से"। यही ऋषियों ने कहा भी है—"सा धारेति इति धर्मः"।

इस विशाल विश्व ब्रह्माण्ड में अरबों वर्ष के मध्य जन्मे हुए मनुष्य का यह चरम कर्त्तव्य है कि वह उस चेतन सत्ता या ईश्वर का साक्षात्कार प्राप्त कर ले यही मनुष्य का धर्म है। यह इस मनुष्य शरीर से ही संभव है क्योंकि इस शरीर में ही वह सारी परिस्थितियाँ उपलब्ध हैं जिससे ब्रह्म साक्षात्कार संभव है।

उन कर्त्तव्यों को जिनके करने से व्यक्ति के अन्दर विकसित संस्कार के कारण ब्रह्म साक्षात्कार करने में सहायता मिलती है उसे धर्म कार्य या पुण्य कार्य कहा गया है। ब्रह्म साक्षात्कार की अवस्था प्राप्त करने के लिये मनुष्य द्वारा अपने जीवनकाल में समयोचित मानवीय तथा नैतिक कर्त्तव्यों अर्थात् धर्म कार्य या पुण्य कार्य का पालन अवश्य पूरा होना चाहिये। जैसे—अहिंसा, सत्य, दान, दया, उपकार तथा कृतज्ञता आदि। समय पर उपस्थित होने वाले इन कर्त्तव्यों के निर्वाह पूरा न होने पर व्यक्ति के लिये यह संभव नहीं है कि वह मनुष्य जन्म के चरम कर्त्तव्य अर्थात् धर्म (ब्रह्म साक्षात्कार) की अवस्था प्राप्त कर ले मनुष्य का जन्म अपने

एक निश्चित संस्कार के अनुसार होता हैं। वह ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करे या न करे अर्थात् नास्तिकों के भीतर भी मानवीय तथा नैतिक गुण कभी-कभी आस्तिकों से भी ज्यादा पाया जाता है। सामान्यत: जन्म से प्राप्त संस्कार ब्रह्म साक्षात्कार के लिये पर्याप्त नहीं होता इसे और विकसित करने की आवश्यकता होती है। भारतीय ऋषियों ने पाया कि ईश्वर को श्रद्धा पूर्वक समर्पण करने या उनमें मन लगाने से व्यक्ति के भीतर मानवीय तथा नैतिक गुणों का विकास होता है। जिस अनुपात में यह मन ईश्वर में लगता है उसी अनुपात में वह ब्रह्म साक्षात्कार की दिशा में अग्रसर होता है और अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल होता है। ईश्वर के प्रति श्रद्धापूर्वक समर्पण करने से व्यक्ति के भीतर जिस संस्कार का विकास होता है। वह व्यक्ति परिवार तथा समष्टि रूप में पूरे समाज के लिये परम आवश्यक है। धार्मिक भावना से ओत-प्रोत समाज सभ्य सुसंस्कृत एवं सदाचार आदि गुणों से युक्त सुव्यवस्थित होगा। धर्म विहीन समाज अनैतिक असभ्य एवं जंगली होगा।

अतः धर्मलोक और परलोक (व्यक्त और अव्यक्त या समाज और स्वर्ग) दोनों के लिये परम आवश्यक है।

□

गीता का सन्देश—

मनुष्य को जीवन संग्राम में कर्तव्य तथा चरम कर्तव्य (लक्ष्य तथा चरम लक्ष्य) दोनों का निर्वाह करना होता है। शरीर के सभी इन्द्रियों का स्वामी मन होता है। मन जैसा चाहता है शरीर वैसा ही करता है। मन अर्थात् इच्छायें और कामनायें बहुत प्रकार की होती है इसमें चार कामनायें काम, क्रोध, लोभ तथा अहंकार सबसे प्रधान होती हैं। ये कामनायें मनुष्य को कर्तव्य तथा चरम कर्तव्य (लक्ष्य तथा चरम लक्ष्य) को पूरा करने से प्रायः विचलित कर देती हैं, न कि केवल विचलित ही करती हैं बल्कि उसे गहरे गड्ढे में भी गिरा देती हैं अर्थात् सर्वनाश तक पहुँचा देती हैं। मन को ईश्वर के प्रति समर्पित रखने से ये नियंत्रित रहती हैं। जीवन के लक्ष्य और चरम लक्ष्य को प्राप्त करने में जो संग्राम करना पड़ता है उस समय यदि मन ईश्वर के प्रति समर्पित रहे तो सफलता तथा विजय प्राप्त होना निश्चित है।

भगवत गीता पुस्तक में प्रथम पृष्ठ पर अंकित चित्र भारतीय संस्कृति और अध्यात्म की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है। महाभारत युद्ध के प्रारम्भ में ही कुरुक्षेत्र के मैदान में अर्जुन चार घोड़ों से युक्त रथ पर सवार हैं और श्रीकृष्ण उनके सारथी हैं अर्थात् उन घोड़ों की बागडोर भगवान श्रीकृष्ण के हाथों में है। इस चित्र में रथ प्रतीक है मनुष्य शरीर का, अर्जुन प्रतीक हैं पुरुषार्थ के, चार घोड़े प्रतीक हैं काम, क्रोध, लोभ तथा अहंकार के और श्रीकृष्ण प्रतीक हैं ईश्वर का (ईश्वरीय कृपा का)।

मनुष्य शरीर रूपी रथ के चार काम, क्रोध, लोभ तथा अहं बड़े

प्रबल घोड़े हैं। इन घोड़ों की लगाम कृष्ण को पकड़ा कर अर्थात् अपना मन ईश्वर को समर्प्रित कर जीवन के लक्ष्य और चरम लक्ष्य प्राप्त करने को संग्राम में उतर पड़े हैं। महाभारत के युद्ध में एक तरफ कौरवों की सेना है जिसमें बड़े-बड़े योद्धा भीष्म, द्रोण, कर्ण, अश्वथामा, शल्य आदि थे तथा दूसरी तरफ पाण्डवों की सेना है जिसमें धनुर्धारी अर्जुन तथा भगवान उनके सारथी हैं अर्थात् सहायक हैं। पाण्डवों की सेना से कौरवों की सेना काफी बड़ी थी तथा बड़े-बड़े योद्धा भी थे परन्तु पाण्डवों की सेना से वह पराजित हो जाती है। जीत धनुर्धारी अर्जुन की होती है जिनके सारथी भगवान श्रीकृष्ण हैं।

तात्पर्य है कि जीवनरूपी संग्राम में विजयी होने या जीवन को सफल करने के लिये प्रबल पुरुषार्थ के साथ भगवान की अनुकूलता या कृपा का पात्र होना आवश्यक है। धनुर्धारी अर्जुन अर्थात् प्रबल पुरुषार्थ के साथ उनका पक्ष नैतिकतापूर्ण था और श्रीकृष्ण सारथी थे अर्थात् भगवान की कृपा भी उनके साथ थी जिससे अर्जुन विजयी हुए। कौरवों के साथ पुरुषार्थ था और सेना भी बड़ी थी परन्तु उनका पक्ष अनैतिकतापूर्ण था और भगवान की अनुकूलता या कृपा इनको प्राप्त नहीं थी, जिसके परिणाम स्वरूप इनकी पराजय हुई। नैतिकता के साथ ही भगवान की कृपा प्राप्त होती है। अनैतिकता के साथ भगवान की अनुकूलता या कृपा प्राप्त होना सम्भव नहीं। जीवन के किसी भी क्षेत्र के कार्य में सफल होने के लिये जहाँ केवल पुरुषार्थ है वहाँ विजय होना संदिग्ध है और जहाँ केवल भगवान की कृपा पर ही व्यक्ति निर्भर हो वहाँ भी विजय संदिग्ध है। परन्तु जहाँ

प्रबल पुरुषार्थ है तथा भगवान की कृपा भी है वहाँ विजय होना निश्चित है।

इसी तथ्य को सम्पूर्ण गीता के सात सौ श्लोकों की समाप्ति पर निष्कर्ष रूप से अन्तिम श्लोक में व्यक्त किया गया है जो इस प्रकार है—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ।। ७८ ।।

जहाँ योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण हैं और धनुर्धारी अर्जुन हैं वहाँ राजलक्ष्मी तथा विजय है। जगतनियन्ता की यह ध्रुवनीति (अटल नीति) है ऐसा मेरा मत है।

संजय को दिव्यदृष्टि प्राप्त थी उन्होंने दिव्यदृष्टि से जानकर कहा कि जहाँ अर्जुन अर्थात् प्रबल पुरुषार्थ है और श्रीकृष्ण अर्थात् ईश्वर की कृपा भो है वहाँ विजय निश्चित है। यह ईश्वर की अटल नीति है, ऐसा मेरा मत है। जिवन के किसी भी क्षेत्र के किसी भी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये जो भी व्यक्ति श्रद्धा व पूरे मन से ईश्वर को सर्मपित होकर प्रबल पुरुषार्थ के साथ संघर्ष में उतर पड़ता है उसकी विजय निश्चित है।

यही भारतीय संस्कृति और अध्यात्म की आधारशिला है। जीवन के किसी क्षेत्र के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये अथवा किसी नये कार्य को प्रारम्भ करने के पूर्व ईश्वर की पूजा-अर्चना कर प्रबल पुरुषार्थ के साथ संघर्ष में उतर पड़ना ही भारतीय संस्कृति की परम्परा है।

धर्म शास्त्रों में गीता एक अद्‌भुत रचना है। इसके प्रथम अध्याय के प्रथम श्लोक का अहला शब्द है धर्म। (धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः) अर्थात् गीता का प्रारम्भ धर्म शब्द से हुआ है। गीता के अन्तिम श्लोक का अन्तिम शब्द है मम। (तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम)। मम का अर्थ है मेरा अर्थात् मनुष्य का। इसका तात्पर्य है कि धर्म और मम (मेरा या मनुष्य) शब्द के बीच में सम्पूर्ण गीता की रचना है अर्थात् मनुष्य का धर्म क्या है इसी से भरा है गीता। मनुष्य का धर्म है मन से ब्रह्म को धारण कर लेना, जिसका परिणाम है ब्रह्मज्ञान या ब्रह्मसाक्षात्कार (मोक्ष, परमपद, परमगति आदि) का प्राप्त होना। यह अवस्था प्राप्त करना बड़ा कठिन होता है। मनुष्य का मन बड़ा ही चञ्चल है, इसको स्थिर करना अर्थात् मन से ब्रह्म को धारण करना अत्यन्त कठिन होता है। यही प्रश्न अर्जुन ने श्रीकृष्ण से किया, यह मन तो बड़ा चञ्चल है। प्रश्न इस प्रकार है—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

गीता—६-३४

यह मन बड़ा चञ्चल प्रमथन स्वभाव वाला, दृढ़ और बलवान है। इसीलिये उसका निरोध (स्थिर) करना मैं वायु को रोकने की भाँति अत्यन्त दुष्कर मानता हूँ। आगे भगवान ने भी इसे स्वीकार करते हुए कहा है कि इसमें कोई संशय नहीं है कि यह मन बड़ा चञ्चल है और इसको स्थिर करना बड़ा कठिन है परन्तु यह अभ्यास और वैराग्य से स्थिर हो जाता है।

मन से ब्रह्म को धारण करना अर्थात् ब्रह्मज्ञान या ब्रह्मसाक्षात्कार करने में जो बाधायें हैं, इसके वैज्ञानिक सिद्धान्त क्या हैं, इसकी विधि क्या है तथा कदम-कदम पर अनुभव क्या होता है यही भरा है, इन दो शब्दों 'धर्म' और 'मम' के बीच अर्थात् गीता में। इसीलिये कहा गया है कि गीता एक ब्रह्मविद्या, योगविद्या की पुस्तक है। गीता के प्रत्येक अध्याय के अन्त में लिखी यह पंक्ति ॐ तत्सदिति श्रीमद्-भगवद्गीता सूपनिषत्सु ब्रह्म विद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्ण अर्जुनं संवादे ··· ··· अध्यायः। इस तथ्य को प्रमाणित करती है।

गीता की रचना अद्वितीय तथा आश्चर्यजनक है यह गृहस्थ तथा सन्यासी दोनों के लिये है। धर्म का विज्ञान सम्मत तथा तर्क सम्मत आधार इसमें उपलब्ध है। यह धर्म, कर्म, दर्शनशास्त्र, विनती, सभ्यता, शिष्टाचार, शरणागति मोक्ष तथा आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने की विधाओं का विचित्र मिश्रण है। समस्त वेदों उपनिषदों का निचोड़ तथा एक पूर्ण ग्रन्थ है। यह गागर में सागर है। यदि हठधर्मी पक्षपात एवं संकीर्णता का त्यागकर इसका अध्ययन किया जाये तो यह मानव कल्याण की एक सर्वश्रेष्ठ रचना है। सागर को प्याले में प्रस्तुत करने का दृश्य इसी चन्द पृष्ठ की पुस्तक में देखने को मिलता है।

※

भारतीय संस्कृति—

भारतीय संस्कृति तथा अध्यात्म की स्थापना किसी एक समय, एक व्यक्ति (ऋषि या राजा), एक पुस्तक, एक जाति या एक क्षेत्र के लोगों द्वारा नहीं हुई है। यह विभिन्न समय में विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न जातियों में अवतरित विभिन्न ऋषियों, सन्तों तथा मनीषियों द्वारा विकसित हुई है। ये सभी ऋषि ब्रह्म से युक्त होने या ब्रह्म साक्षात्कार करने में सफल हुए थे अर्थात् सभी एक ही अवस्था अर्थात् ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त थे। एक ही अवस्था को प्राप्त होने के कारण इनके सिद्धान्तों तथा कथनों में समानता स्पष्ट देखने को मिलती है। समान तथ्य कुछ इस प्रकार हैं—

१. ब्रह्म या ईश्वर चर, अचर में सर्वत्र वर्तमान है।

२. ब्रह्म साक्षात्कार ही मनुष्य का धर्म है।

३. ब्रह्म साक्षात्कार प्राप्त करने में मन की चञ्चलता ही प्रमुख बाधा है।

४. यह अवस्था अध्ययन अध्यापन से प्राप्त नहीं की जा सकती। विज्ञान सम्मत योग साधना के अभ्यास से ही प्राप्त होती है।

५. गुरु के बिना ब्रह्मज्ञान या ब्रह्म साक्षात्कार संभव नहीं है।

६. मानवता तथा नैतिकतापूर्ण कर्म ही वह ऊर्जा है जो मुख्य रूप से ब्रह्म साक्षात्कार में सहायक है।

७. अहिंसा, सत्य बोलना, परोपकार, दान, दया, कृतज्ञता, समर्पण तथा नैतिक कर्तव्य आदि को धर्म कहा गया है। ये मानवीय तथा नैतिक कर्तव्य धर्म की अवस्था अर्थात् ब्रह्म साक्षात्कार की

अवस्था प्राप्त करने के लिये परम आवश्यक हैं। ये सहायक धर्म हैं। इसीलिये भारतीय संस्कृति में इनको भी धर्म की संज्ञा प्रदान की गई है।

८. मनुष्य के जीवन में हजारों मानवीय तथा नैतिक कर्तव्य उपस्थित होते हैं। इसी को ध्यान में रखकर ऋषियों ने धर्म को कई शीर्षकों में वर्गीकृत किया है। जैसे—देशधर्म, राजधर्म, सामान्य धर्म, जातिधर्म, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, कालधर्म तथा आपतधर्म आदि।

उपर्युक्त वर्गीकृत धर्म पूरे देश में समान रूप से प्रचलित एवं व्यवहृत होता रहा, इसी से भारतीय संस्कृति और सभ्यता निर्मित हुई है। देश पर कभी भी किसी एक राजा का शासन नहीं रहा और न किसी एक राजा के प्रभाव से भारतीय संस्कृति का विकास हुआ। देश छोटे-छोटे अनेक राज्यों में विभाजित होने तथा भिन्न-भिन्न भाषाओं के होने के पश्चात् भी उपर्युक्त सांस्कृतिक एकता ही राष्ट्रीय एकता का आधार बनी रही और आज भी है।

प्रत्येक व्यक्ति का स्वभाव तथा संस्कार एक जैसा नहीं होता, भिन्न-भिन्न अनुपात में कुछ जन्म से ही सात्विक (मानवीय तथा नैतिक गुणों से परिपूर्ण) तथा तामसिक (काम, क्रोध, लोभ तथा अहं आदि गुणों से पूर्ण) होते हैं। ब्रह्म साक्षात्कार के लिये अत्यधिक सात्विक स्वभाव की आवश्यकता होती है। मनुष्य के भीतर मानवीय तथा नैतिक गुणों के और विकास की आवश्यकता होती है। प्राचीन मनीषियों ने यह पाया कि ब्रह्म या ईश्वर की ओर मन ले जाने से व्यक्ति के भीतर तामसिक वृत्तियों का ह्रास तथा सात्विक वृत्तियों का विकास होता है। जैसा कि पूर्व में वर्णन किया गया है कि रावण ने सीता को

अपने वश में करने के लिये राम का रूप धारण करना चाहा, इसके लिये उसे राम का ध्यान करना पड़ा तब उसके भीतर उस समय सात्विक वृत्ति विकसित हो गई और तामसिक वृत्ति अर्थात् सीता के साथ कोई अनैतिक कार्य या दुर्व्यवहार करने की भावना ही समाप्त हो गई।

प्रकृति के इसी सिद्धान्त को ध्यान में रखकर मानव में सात्विक वृत्तियों के विकास के लिये ईश्वर उपासना मार्ग का निर्धारण प्राचीन मनीषियों द्वारा किया गया। जिस अनुपात में मनुष्य ब्रह्म या ईश्वर को समर्पण या ध्यान करता है उसी अनुपात में उसके भीतर मानवता तथा नैतिकता के गुण विकसित होने लगते हैं और वह ब्रह्म साक्षात्कार के पथ पर अग्रसर हो जाता है। इसे विश्वभर के धर्मपंथ स्वीकार करते हैं। विश्वभर के धर्मपंथों में उपासना पद्धति तीन स्तरों में विभक्त पायी जाती हैं—

१—दैहिक साधना पद्धति।

२—वाचिक साधना पद्धति।

३—मानसिक साधना पद्धति।

१. दैहिक साधना पद्धति—

विश्व भर के धर्म पंथों में यह प्रथम स्तर की साधना पद्धति है जिसमें ईश्वर की सत्ता को किसी रूप में मानकर व्यक्ति मंदिर, मस्जिद, तथा चर्च आदि देव स्थान में दूर-दूर से भी जाकर अपनी श्रद्धा समर्पित करते हैं।

२. वाचिक साधना पद्धति—

सभी धर्म पंथों में यह दूसरे स्तर की साधना पद्धति प्रचलित है। इसमें व्यक्ति अपने धर्म पंथ के गुरु से मंत्र की दीक्षा प्राप्त कर, बताये

हुए नियमों के अनुसार माला का सहारा लेकर जाप करते हुए ईश्वर का स्मरण करते हैं। यह दैहिक पद्धति से उच्च श्रेणी की साधना पद्धति मानी जाती है।

३. मानसिक साधना पद्धति—

सभी धर्म पंथों में यह तीसरे स्तर की साधना पद्धति है जो सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है इसमें वैज्ञानिक विधि की साधना करते हुए मन को ईश्वर के साथ युक्त किया जाता है। भारत में इस वैज्ञानिक विधि को ब्रह्म विद्या या योग विद्या कहा जाता है। भारतीय धर्म शास्त्र इससे भरे हुए हैं।

वैज्ञानिक विधि की मानसिक साधना पद्धति का अनुकरण करने पर सात्विक गुण निश्चित रूप से विकसित होते हैं परन्तु सामान्यतः इस पद्धति का अनुकरण कम लोग ही करते हैं गीता में इस तथ्य की पुष्टि भगवान कृष्ण के कथन से भी होती है जो इस प्रकार है—

मनुष्याणां सहस्त्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्वतः॥

हजारों मनुष्यों में कोई सिद्धि (ब्राह्मी स्थिति) के लिये प्रयत्न करता है। उन प्रयत्न करने वालों में भी कोई मुझको तत्व (ब्राह्मी स्थिति प्राप्त कर) से जान लेता है।

दैहिक और वाचिक साधना पद्धति में जिस अनुपात में श्रद्धा, भक्ति व विश्वास के साथ मन का समर्पण होता है। उसी अनुपात में सात्विक गुणों का विकास होता हैं अन्यथा नहीं ऐसे बहुत से लोग होते हैं जो समाज की दृष्टि में अच्छ बनने के लिये दिखावती धार्मिक कृत्य पूजा-पाठ, उपासना अत्यधिक करते रहते हैं। परन्तु उनका

आचरण सामान्य लोगों से भी बहुत निम्न स्तर का होता है ऐसे लोगों के कारण ही धार्मिक कृष्य, पूजा पाठ, उपासना आदि को लोग ढोंक तथा पाखंड मानने लगते हैं।

मानवीय तथा नैतिक गुणों के विकास के लिये भारतीय ऋषियों ने जिन कर्तव्यों अर्थात् धर्म और वर्गीकृत धर्म का समाज के लिये निर्धारण किया वही भारतीय संस्कृति कहलाता है इसी संस्कृति का अनुकरण करते हुए व्यक्ति जीवन के चरम लक्ष्य (धर्म) अर्थात् ब्रह्म ताक्षात्कार के पथ पर अग्रसर हो जाता है।

भारत में असंख्य ऋषि व संत हुए जिससे यहाँ अनेक पंथ विकसित हुए परंतु अध्यात्म अथवा उपासना पद्धति का सिद्धान्त समान होने के कारण पूरे भारत का सांस्कृतिक आधार एक बना रहा भारतीय ऋषियों की यह विशेषता रही कि वे सभी एक दूसरे के पंथ का समान आदर करते रहे वे यह मानते हैं कि सभी का लक्ष्य एक है, उपासना का सिद्धांत एक है जिस प्रकार हिन्दू धर्म के सभी पंथ एक दूसरे का आदर करते रहे उसी प्रकार बाहर से आये धर्म पंथों का भी उन्होंने वैसे ही आदर किया। क्योंकि उनका भी लक्ष्य वही था जो हिन्दू धर्म के अनेक पंथों का था। परन्तु विदेशी धर्म पंथों ने इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया और वे यहाँ के लोगों का तलवार तथा धन प्रलोभन के बल पर धर्मान्तरण करने में लगे रहे और आज भी हैं। लम्बे समय तक आघात-प्रतिघात के पश्चात् भी भारतीय संस्कृति और सांस्कृतिक एकता सुदृढ़ बनी रही और आज भी बनी हुई है।

धर्म का विकृत रूप

धर्म की सर्वश्रेष्ठ अच्छाई ही सबसे बड़ी बुराई का रूप ग्रहण कर लेती है। धर्म पंथ में ईश्वर के प्रति श्रद्धा और विश्वास ही सारी पूँजी है। ईश्वर के किसी भी स्वरूप को पूरी श्रद्धा, भक्ति और विश्वास के साथ उपासना करना ही सर्वश्रेष्ठ साधना है। ईश्वर के जिस रूप की भी उपासना की जा रही हो उसके प्रति आस्था में जरा भी कमी नहीं आनी चाहिए और वह इस भावना से होना चाहिए कि जिस स्वरूप की मैं उपासना कर रहा हूँ वह विश्व भर की उपासना पद्धतियों में श्रेष्ठतम है। यदि यह भाव दृढ़ नही है तो व्यक्ति द्वारा अपनी उपासना पूरे मन से करना सम्भव नहीं, अतः लक्ष्य सिद्ध नहीं होगा। इसलिए अपने इष्ट और उपासना को सर्वश्रेष्ठ मानने की दृढ़ता अवश्य होनी चाहिए। परन्तु मनुष्य का यह भाव उस समय विकृत रूप ले लेता है जब वह अपने इष्ट और उपासना को सर्वश्रेष्ठ मानने के साथ ही इस पर उतर आता है कि विश्व भर के दूसरे लोग भी अपनी उपासना पद्धति त्याग कर मेरा ही अनुकरण करें इसके लिए वह तर्क सम्मत आधार देने की अपेक्षा धन प्रलोभन और तलवार के बल का सहारा लेता है। यही धर्म का विकृत रूप है, जब एक धर्मपंथ दूसरे धर्मपंथ को निकृष्ट बताने और बल पूर्वक उसे समाप्त करने का प्रयास करने लगता है। यहाँ भारतीय ऋषियों की परम्परा सिद्धान्तों पर आधारित उच्चकोटि की आदर्शपूर्ण एवं प्रशंसनीय है। उनका सिद्धान्त था कि सभी धर्मपंथों का लक्ष्य एक है। ईश्वर के किसी भी स्वरूप का श्रद्धा, भक्ति और विश्वास के साथ किसी भी प्रकार से उपासना की जाय परिणाम सभी का फलदायी है। हिन्दू धर्म में बहुत से पंथ हो गये हैं। सभी एक

दूसरे का समान आदर करते हैं। भारतीय ऋषियों द्वारा दूसरे सभी पंथों का भी वैसे ही आदर करने की परम्परा है जैसे अपने धर्मपंथों का। दूसरे धर्मपंथों का कभी निरादर नहीं किया गया है। यहाँ के ऋषियों ने दूसरे सम्प्रदाय के लोगों को उपदेश तथा दीक्षा दी और अपना शिष्य बनाया परन्तु अपनी जाति या सम्प्रदाय त्यागकर हिन्दू बनने को नहीं कहा और उनके चाहने पर भी बनाया नहीं क्योंकि वे इसे भलीभांति जानते हैं कि सभी धर्मपंथ एक ही लक्ष्य मनुष्य के चरम लक्ष्य की प्राप्ति की ओर जा रहे हैं।

ब्राह्मण तथा ब्राह्मणवाद—

भारतीय संस्कृति तथा अध्यात्म के विषय में यह आलोचना सुनने और पढ़ने को मिलती है कि यह ब्राह्मणों की देन है अर्थात् ब्राह्मणवाद है। इस विचार के लोगों का कथन है कि अपनी जाति के निहित स्वार्थ के लिये ब्राह्मणों द्वारा धार्मिक कृत्यों का जाल फैला दिया गया है। यह सम्पूर्ण धार्मिक कृत्य ही अन्धविश्वास तथा रूढ़िवाद पर आधारित है। ब्राह्मण तथा ब्राह्मणवाद क्या है इस पर एक विचार इस प्रकार है।

ब्राह्मण तथा ब्राह्मणवाद पर विचार करने के पूर्व सर्वप्रथम यह समझने की आवश्यकता है कि ब्राह्मण किसे कहते हैं ?

ब्राह्मण—

इस सम्बन्ध में गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है कि इन चार वर्णों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र (अछूत) का विभाजन गुण और कर्म के आधार पर मैंने किया है। गीता में वह श्लोक इस प्रकार है—

चातुर्वर्ण्यं मयासृष्टं गुणकर्म विभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्।।
गीता—४-१३

इन चार वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) का विभाजन गुण और कर्म के अनुसार मेरे द्वारा रचा गया है। इसका कर्ता होते हुए भी मुझको आसक्ति रहित होने के कारण अकर्ता ही समझो। इसे स्पष्ट करते हुए अठारहवें अध्याय में श्रीकृष्ण ने इस प्रकार कहा है—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥

गीता—१८-४१

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्म स्वाभाविक गुणों के अनुसार विभक्त किये गये हैं। किसी लक्ष्य को निर्धारित करने से लेकर प्राप्त करने तक चार अवस्थायें बनती हैं। गुण और कर्म के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र (अछूत) वर्ण का विभाजन इन्हीं अवस्थाओं का द्योतक है। इसे समझने के लिये यहाँ एक उदाहरण ले रहे हैं जो इस प्रकार है। एक छात्र को मेडिकल अथवा इंजिनियरिंग की परीक्षा उत्तीर्ण करना है। इसमें चार अवस्था बनती है—

प्रथम—जब तक छात्र मेडिकल या इंजिनियरिंग कालेज में प्रवेश नहीं प्राप्त किया है, यह अछूत (शूद्र) अवस्था का द्योतक है।

द्वितीय—मेडिकल या इंजिनियरिंग में प्रवेश कर लेने के पश्चात् छात्र के मन में यह उठना कि मेडिकल या इंजिनियरिंग परीक्षा उत्तीर्ण करने से उसको लाभ होगा या नहीं। जितना समय श्रम और धन परीक्षा उत्तीर्ण करने में लगेगा और उसके बाद हमें जो लाभ होगा उससे कहीं ज्यादा लाभ हम अपने व्यवसाय से अर्जित कर सकते हैं। इस प्रकार की लाभ और हानि पर दुविधा की मनःस्थिति वैश्य की अवस्था का द्योतक है।

तृतीय—मेडिकल या इंजिनियरिंग कालेज में प्रवेश कर लेने के पश्चात् लाभ और हानि का विचार त्यागकर उसे पूरा करने का दृढ़ संकल्प कर लेना ही क्षत्रिय अवस्था का द्योतक है।

चतुर्थ—मेडिकल या इंजिनियरिंग परीक्षा उत्तीर्ण कर लेना अर्थात् निर्धारित लक्ष्य को प्राप्त कर लेना ही ब्राह्मण अवस्था का द्योतक है।

प्राचीनकाल में भौतिक उपलब्धियों को उतना महत्व नहीं दिया जाता था जितना ब्रह्मविद्या को। ब्रह्मविद्या की ही प्रधानता थी और वही सर्वोपरि था। उस समय ब्रह्म को मन से धारण करना ही प्रधान लक्ष्य था और इसी आधार पर गुण और कर्म के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र (अछूत) का विभाजन हुआ था। ब्रह्मविद्या प्राप्त न करने तक अछूत अवस्था, प्राप्त होने के बाद लाभ हानि का विचार की स्थिति को वैश्य अवस्था का तथा उसे पूरा करने का दृढ़ संकल्प कर लेने की मनःस्थिति क्षत्रिय अवस्था का तथा ब्रह्म को मन से ग्रहण कर लेना ब्राह्मण अवस्था का द्योतक है। इन चार वर्णों का वर्णन गीता में इस प्रकार किया गया है—

ब्राह्मण—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ १८/१२ ॥

शान्ति, आत्मसंयम तथा पवित्रता, सहिष्णुता, सत्यनिष्ठा, ज्ञान-बिज्ञान और भक्ति विश्वास ये गुण ब्राह्मण के स्वाभाविक गुण हैं। ब्रह्म को मन से ग्रहण कर लेनेवाले ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण के ये स्वाभाविक गुण होते हैं।

क्षत्रिय—

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥ १८/४३ ॥

शौर्य (पराक्रम), तेज, धैर्य, सूझबूझ, युद्ध से पलायन न करने का स्वभाव, दान, प्रजापालन (स्वामीभाव) ये सब क्षत्रिय के स्वाभाविक गुण हैं।

युद्ध से पलायन न करना अर्थात् निर्धारित लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये संघर्ष में उतर पड़ने के बाद उससे विमुख न होना, दृढ़ता के साथ उसे पूर्ण करने का संकल्प ही क्षत्रिय का स्वाभाविक गुण है।

वैश्य और शूद्र—

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ १८/४४ ॥

कृषि, गौरक्षा और व्यापार अर्थात् लाभ और हानि की मनःस्थिति वैश्य का स्वाभाविक गुण है।

परिचर्यात्मक अर्थात् सेवाभाव शूद्र का स्वाभाविक गुण है। ब्रह्म साक्षात्कार के लिये ब्रह्मविद्या की दीक्षा सेवाभाव से ही प्राप्त होती है। जब तक ब्रह्मविद्या प्राप्त नहीं होती वह अछूत (शूद्र) है, सेवा करके उसे प्राप्त करना शूद्र का स्वाभाविक गुण है।

यह तथ्य श्रीकृष्ण के इस कथन से और स्पष्ट हो जाता है जो इस प्रकार है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥४/३४

ब्रह्म विद्या का उपदेश (दीक्षा) प्राप्त करने के लिये श्रद्धा, समर्पण एवं विनीत भाव से सेवा करते हुए प्रश्न करके जानने का

प्रयास करने पर तत्त्वदर्शी ब्रह्मज्ञानी तुम्हें ज्ञान का उपदेश (दीक्षा) देंगे।

तात्पर्य है कि ब्रह्म विद्या की दीक्षा प्राप्त करने के लिये श्रद्धा, समर्पण, विनीत भाव से तत्त्वज्ञानी के पास रहकर उन्हें प्रसन्न कर उनसे प्रश्न करके ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास सेवा भाव कहा गया है। यह सेवा भाव ही ब्रह्म विद्या की दीक्षा प्राप्त कराता है। ब्रह्म विद्या की दीक्षा प्राप्त करने के पूर्व यह सेवा भाव ही शूद्र का स्वाभाविक गुण है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र इन चार वर्णों का विभाजन गुण और कर्म के अनुसार इसी प्रकार हुआ है।

उपर्युक्त के अनुसार ब्राह्मण के सम्बन्ध में कहा गया है कि "ब्रह्म-जानाति इति ब्राह्मण:" अर्थात् ब्रह्म को जान लेने वाले ब्राह्मण होते हैं और ब्रह्म को मन से ग्रहण कर लेने पर ब्रह्म ज्ञान होता है।

इन्हीं ब्राह्मण को ब्रह्मज्ञानी, ब्रह्मर्षि, आत्मज्ञानी आदि भी कहा गया है। शास्त्रों में ब्राह्मण के जो लक्षण कहे गये हैं वह इसी अवस्था के ब्राह्मणों के होते हैं। यह अवस्था अत्यन्त उच्चकोटि की होती है। इस अवस्था को प्राप्त महापुरुष अन्तर्यामी, दिव्यदृष्टि प्राप्त तथा सर्वज्ञ होते हैं। प्राचीन काल में समाज इनका अत्यधिक आदर करता था। बड़े-बड़े राजा भी इस उच्च अवस्था प्राप्त ब्राह्मण के आश्रम जाकर उनके चरणों में प्रणाम करते और उनका आशीर्वाद प्राप्त करते थे।

पौराणिक कथाओं में वर्णित एक कथानक द्वारा इस अवस्था को प्राप्त ब्राह्मण की उच्चता को अभिव्यक्त किया गया है। कथानक इस

प्रकार है कि ब्राह्मण (ब्रह्मज्ञानी) भृगुऋषि क्षीर सागर में विश्राम कर रहे विष्णु भगवान के पास उनकी परीक्षा लेने गये और उनपर क्रुद्ध होकर उनकी छाती पर अपने पाँव से मार दिया। विष्णु भगवान को इस पर क्षोभ होना तो दूर बल्कि प्रत्युत्तर में उन्होंने कहा यह मेरा बड़ा भाग्य हैं जो ऐसे ब्राह्मण के पाँव मेरी छाती पर पड़े। यह कथानक ब्राह्मण के उच्चता की अभिव्यक्ति हूँ।

भारतीय मनीषियों, ऋषियों की यह मान्यता है कि दैवी शक्ति की कृपा अर्थात् लाभकारी परिणाम प्राप्ति के लिये जनमानस द्वारा सभी धार्मिक अनुष्ठान ब्राह्मण द्वारा पूर्ण कराया जाना चाहिये। परंतु यह सम्भव नहीं है क्योंकि इस उच्चकोटि की अवस्था के ब्राह्मण एक समय में पूरे मानव समुनय के बीच एक या दो हुआ करते हैं। इनका जीवन भी गोपनीय होता है जिससे सभी को पता भी नहीं चलता। अतः यहाँ प्रतीक का सहारा लिया गया।

भारतीय ऋषियों ने पाया कि प्रकृति का यह सिद्धांत है कि प्रतीक पर चलकर व्यक्ति मूल तक पहुँच जाता है अर्थात् मूल का लाभ मिल जाता है। जैसे हिन्दी भाषा में प्रथमिक बिद्यार्थी को क से कबूतर ख से खरगोश पढ़ाया जाता है जबकि उसका कोई अर्थ नहीं है परन्तु इसी के सहारे चलकर ब्यक्ति हिंदी भाषा का विद्वान हो जाता है। हिन्दी भाषा का प्रत्येक जानकार यही पढ़कर आगे बढ़ता है। न कि केवल हिन्दी भाषा बल्कि विश्व के प्रत्येक भाषा के लोग अपनी भाषा में इसी प्रकार पढ़कर अपनी भाषा के जानकार बने हैं।

भगवान राम या कृष्ण का मूल दर्शन होना संभव नहीं होता परन्तु उनकी प्रतीक मूर्तियों का दर्शन करते-करते आगे बढ़ने पर मूल

दर्शन का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। इसी प्रकार ईश्वर के प्रतीक के किसी स्वरूप को मानकर उसका दर्शन करने की व्यवस्था विश्व भर के धर्मपंथों में है। इसी आधार पर भक्त जनमानस द्वारा प्रतीक दर्शन का अनुकरण होता रहता हैं और अंततः उसका लाभ प्राप्त कर लेना संभव हो जाता है। प्राचीन काल के मनीषियों ने प्रकृति के इस सिद्धांत को भलीभाँति समझ लिया था कि पूरे मनोयोग से प्रतीक पर चलकर मूल तक पहुँचने का लाभ मिल जाता है।

इसी सिद्धान्त को ध्यान में रखकर भारतीय मनीषियों द्वारा पूरे समाज के लिये उच्चकोटि के ब्राह्मण के अनुपलब्धता में प्रतीक ब्राह्मणों से सभी धार्मिक अनुष्ठान कराने की पद्धति चलायी गयी। उच्चकोटि के ब्राह्मण के प्रतीक हैं जाति के ब्राह्मण। इन प्रतीक ब्राह्मणों से पूरे जनमानस के अनुष्ठान पूरा कराना संभव हो गया और यही पद्धति भारतीय संस्कृति में प्राचीन काल से चली आ रही है।

किसी दूसरी जाति के विद्वान शास्त्रज्ञ या कर्मकांडी द्वारा अनुष्ठान कराना वैसे ही निरुद्देश्य, निरर्थक तथा निष्फल है जैसे ईश्वर के प्रतीक मन्दिर की किसी मूर्ति का दर्शन करने के स्थान पर उससे चार गुनी बड़ी कहीं भी रखे हुए किसी पत्थर का दर्शन कर लेने में है। उपर्युक्त दोनों ही परिस्थितियों में समय श्रम तथा धन तीनों का उपयोग व्यर्थ करना प्रतीत होता है। यहाँ महत्व प्रतीक का है। जिसकी मान्यता प्राचीन काल के ऋषियों द्वारा दी गयी तथा जो समाज द्वारा स्वीकृत होकर सामाजिक आस्था बन गयी। इसी आस्था पर चलते हुये लोगों में भीतर की श्रद्धा-भक्ति और विश्वास का प्रवाह बना रहता है, उससे हटकर चलते ही ये तीनों समाप्त हो

जाते हैं। यदि श्रद्धा-भक्ति और विश्वास का अभाव हो गया तो समय श्रम और धन सभी का उपयोग व्यर्थ है। इनका कोई महत्व नहीं हैं। यदि आस्था डगमगा जाये तो सब निरर्थक हो जाता है। यही कारण है कि भारतीय जनमानस अपने पूजा कथा विवाह तथा यज्ञ आदि सभी अनुष्ठान जाति के ब्राह्मण द्वारा सम्पन्न कराता है। यह आस्था प्राचीनकाल से आज तक बनी हुई है। यह आस्था किसी भी दूसरी जाति के प्रति जुड़ जाय तो उसी जाति द्वारा अनुष्ठान कराने की परम्परा चल पड़ती। परन्तु ऐसा हुआ नहीं और अब ऐसा होना संभव नहीं लगता। इसी देश में एक बार ऐसा भी हुआ था कि दूसरीं जाति के कर्मकाण्डी शास्त्रज्ञ अर्थात् कथित ब्राह्मण तैयार किये गये जाति के ब्राह्मणों से अनुष्ठान न कराकर इन कथित ब्राह्मणों से ही अनुष्ठान कराने का प्रयास हुआ था। परन्तु इन कर्मकाण्डी शास्त्रज्ञ (कथित ब्राह्मणों) से उन्हीं की जाति के लोगों ने अपने अनुष्ठान नहीं कराये। परिणाम यह हुआ कि यह प्रयास ही लगभग बन्द हो गया। प्राचीन काल से चली आई और आज के जनमानस की जो आस्था है, तदनुसार जाति के ब्राह्मणों से हटकर दूसरी जाति के कथित ब्राह्मणों से अनुष्ठान कराना लोगों को निरर्थक प्रतीत होता है। तात्पर्य है कि लोगों द्वारा जो भी अनुष्ठान कराये जाते हैं वह अपनी आस्था के अनुसार जाति के ब्राह्मणों द्वारा और यह स्वेच्छया कराया जाता है। जनमानस से अनुष्ठान कराने के लिये जाति के ब्राह्मणों द्वारा बल प्रयोग नहीं किया जाता। वे नहीं कहते कि तुम अपने अनुष्ठान मुझसे ही कराओ तथा किसी दूसरे द्वारा कराये जाने पर उनकी ओर से कोई व्यवधान उत्पन्न नहीं किया जाता। लोग स्वेच्छया आदर के साथ आग्रह करके आमन्त्रित कर उनसे अपने अनुष्ठान

कराते हैं। एक आश्चर्यजनक तथ्य यह भी देखने को मिला कि जो ब्राह्मणों की घोर निन्दा करते हैं तथा कहते हैं कि "निहित स्वार्थ के लिये ढोंग पाखण्ड पर आधारित यह घृणित ब्राह्मणवाद चल रहा है"। वे भी अपने परिवार के लिये अनुष्ठान इन जाति के ब्राह्मणों से ही कराते हैं। उपर्युक्त का निष्कर्ष है तथाकथित ब्राह्मणवाद जाति के ब्राह्मणों द्वारा जनमानस पर लादा गया नहीं है बल्कि जनमानस ने अपने हित में धर्म विहित व्यवस्था स्वेच्छया स्वीकार की है। धर्म और धार्मिक अनुष्ठान की जो अवधारणा है तथा उसकी फैली हुई जो व्यवस्था है जनमानस के अपने कल्याण के लिये है। जिनकी ईश्वर में तथा इन धार्मिक अनुष्ठानों में आस्था है वे स्वेच्छया अपने कल्याण के निये इन अनुष्ठानों को अपने सामर्थ्य व श्रद्धा के अनुसार कराते हैं। जिनकी आस्था नहीं है वे नहीं कराते। न कराने वालों को कोई ब्राह्मण प्रताड़ित करने या दबाव देने नहीं जाता कि तुम्हें धार्मिक अनुष्ठान कराना ही पड़ेगा और वह भी मुझसे ही।

अतः इस आलोचना का समर्थन नहीं किया जा सकता कि धार्मिक अनुष्ठान सम्पन्न कराने की यह परम्परा ब्राह्मणों ने अपने निहित स्वार्थ के लिये चला रखा है तथा यह ब्राह्मणवाद है।

पूज्य गुरुदेव योगिराज सत्यचरण जी के पास मेरा आना-जाना प्रायः होता रहता था। उनके यहाँ सभी प्रकार के लोग आया करते थे जिनमें बड़े-बड़े विद्वान् तथा कर्मकाण्डी ब्राह्मण भी हुआ करते थे। एक बार मुझे अपने परिवार के लिये धार्मिक अनुष्ठान कराने की आवश्यकता पड़ी मैंने योगिराज सत्यचरण जी से आग्रह किया कि किसी उपयुक्त विद्वान् कर्मकाण्डी ब्राह्मण को आप बतायें जिन्हें हम आमन्त्रित कर अपना अनुष्ठान पूर्ण करायें। सत्यचरण जी ने कहा

तुम्हारे यहाँ कुल पुरोहित तो हैं फिर किसी अन्य ब्राह्मण से क्यों कराओगे। मैंने कहा कि मैं किसी विद्वान् कर्मकाण्डी ब्राह्मण से कराना चाहता हूँ जो आपकी दृष्टि में भी उपयुक्त हो। उन्होंने कहा कि इसमें महत्व विद्वत्ता का नहीं आस्था का है। जिस कुलपुरोहित से तुम्हारे परिवार के सभी अनुष्ठान होते आये हैं उन्हीं से कराना उचित है। यदि कुलपुरोहित उचित समझते हैं कि किसी अन्य विद्वान् ब्राह्मण की भी आवश्यकता है तो जिसे वे उचित समझते हों, उसको वे ही अपने सहयोग के लिये बुला लायें। अपने कुलपुरोहित को हटाकर किसी अन्य से कराना उचित नहीं है। सत्यचरण जी बंगाली ब्राह्मण थे। अपने परिवार की परम्परा के अनुसार उनके जो कुलपुरोहित थे, उन्हीं से वे अपने सभी धार्मिक अनुष्ठान पूर्ण कराते थे। इसके लिये उन्होंने कुलपुरोहित को हटाकर कभी किसी विद्वान् कर्मकाण्डी ब्राह्मण को आमंत्रित नहीं किया। तात्पर्य है कि ब्राह्मणों में भी अपने कुलपुरोहित ब्राह्मण के रहते हुए किसी अन्य ब्राह्मण से कराना उचित नहीं माना जाता। किसी दूसरी जाति के तथाकथित ब्राह्मण से कराने का प्रश्न ही नहीं उठता।

विश्व में ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है जिसमें हर जाति के लोग ज्ञान की उच्च अवस्था न प्राप्त किये हों। जैसे वैज्ञानिक, प्रोफेसर, डाक्टर, इंजीनियर, आई० ए० एस० तथा पी० सी० एस० आदि। अतः धार्मिक अनुष्ठान के लिये जिस स्तर के कर्मकाण्ड तथा शास्त्रज्ञान की आवश्यकता होती है वह सभी जाति के लोग अर्जित कर सकते हैं। परन्तु उसकी उपयोगिता नहीं होगी क्योंकि यहाँ महत्व केवल ज्ञान का नहीं बल्कि आस्था का है जिसे अर्जित करना सम्भव नहीं है। प्राचीन काल से ही ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण के प्रतीक जाति के ब्राह्मणों में जनमानस की जो आस्था है तदनुसार ही लोग जाति के ब्राह्मणों से

अपने धार्मिक अनुष्ठान स्वेच्छया करा रहे हैं। यह भारतीय संस्कृति की परम्परा बन चुकी है। आस्था के महत्व को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि यह चलती रहेगी। यह परम्परा भारतीय संस्कृति का महत्वपूर्ण हिस्सा है, इसका ह्रास होने पर भारतीय संस्कृति की चूलें हिल जायेंगी।

मनुष्य जीवन के चरम लक्ष्य अर्थात् धर्म की अवस्था प्राप्त करने के लिये धार्मिक कृत्यों की सम्पूर्ण प्रक्रिया मन की भावना या मन की वृत्तियों पर आधारित है। अतः इस सन्दर्भ में सभी महत्व भावना तथा आस्था का है। पूरी प्रक्रिया में प्रतीक के दोनों पक्षों का ही सम्पूर्ण महत्व है। प्रथम है ईश्वर के किसी स्वरूप के प्रतीक का तथा दूसरा है मूल ब्राह्मण की प्रतीक जाति के ब्राह्मण का। जिस प्रकार भगवान राम के प्रतीक मूर्ति में जो आस्था है उसके स्थान पर किसी भी मूर्ति या पत्थर के दर्शन का कोई लाभ (औचित्य) नहीं है उसी प्रकार मूल ब्राह्मण के प्रतीक जाति के ब्राह्मण के प्रति जो आस्था है उससे हटकर किसी दूसरे से धार्मिक अनुष्ठान कराने का कोई लाभ (औचित्य) नहीं है, समय, श्रम तथा धन तीनों को व्यर्थ करना है।

जिस प्रकार बाढ़ या भूकम्प के पीड़ित लोगों की सहायता के लिये सरकार द्वारा भेजी गई धनराशि यदि वितरण करनेवाले कर्मचारियों द्वारा हड़प ली जाती है तो सरकार की सहायता योजना को दोष नहीं दिया जा सकता अथवा यह नहीं कहा जा सकता कि सरकार ने अपने लाभ के लिये इस योजना को बनाया। सरकार का उद्देश्य तथा सिद्धान्त मानवता तथा नैतिकतापूर्ण है। दोष वितरण करने वाले कर्मचारियों का है।

इसी प्रकार जीवन के चरम लक्ष्य अर्थात् धर्म की अवस्था प्राप्त करने में प्रतीक के प्रति आस्था के सिद्धान्त का जो सहारा लिया गया है वह सर्वथा उचित है। प्रतीक के प्रति आस्था के मार्ग का अनुकरण करने से ही लक्ष्य की ओर अग्रसर होना सम्भव होता है।

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट होता है कि भारतीय संस्कृति में आस्था की यह परम्परा तर्कसम्मत तथा मनोविज्ञान के सिद्धान्तों पर आधारित है तथा जनकल्याण के लिये है न कि किसी के निहित स्वार्थों की पूर्ति के लिये।

सभी धार्मिक अनुष्ठान जाति के ब्राह्मणों द्वारा पूर्ण कराये जाते हैं। परन्तु इसका एक दुखद (नकारात्मक) पक्ष यह भी है कि प्रायः इन जाति के ब्राह्मणों का आचरण, कृत्य धर्मानुकूल नहीं होता। इनमें बहुत-सी बुराइयाँ प्रवेश कर गयी हैं। परन्तु इसके लिये हजारों वर्ष पूर्व इस परम्परा को प्रतिपादित करने वाले ऋषियों तथा उनके सिद्धान्तों को दोष नहीं दिया जा सकता। बुराइयाँ सभी क्षेत्रों में हैं। जाति, व्यवसाय या देश आदि किसी को भी यह नहीं कहा जा सकता कि इस जाति में या किसी विशेष व्यवसायी जैसे डाक्टर, इंजीनियर, प्रोफेसर, आई० ए० एस० तथा पी० सी० एस० आदि में या किसी विशेष देश के लोगों में कोई बुराई नहीं है। एक ही पिता के चार पुत्रों में दो अच्छे सत्कर्मी हैं तो दो बुरे कुकर्मी भी मिल जाते हैं। ऐसा भी देखा गया है कि एक अच्छे आचरण वाला व्यक्ति ही परिस्थिति बदलने पर आचरणहीन हो जाता है। देश की स्वतन्त्रता के पूर्व अंग्रेजी शासन के विरुद्ध लड़ना अपने तथा अपने परिवार को आग में झोंकने के समान था। देश को स्वतन्त्र कराने में अपने और अपने परिवार को आग में झोंकने वालों में ही कुछ ऐसे निकले

जिनका आचरण देशहित में कम अपने हित में ज्यादा रहा। जब व्यक्ति का स्वयं का स्वभाव बदल जाता है तब यहाँ तो ब्राह्मणों की सैंकड़ों पीढ़ी ही बदल गई। एक ही पिता के चार पुत्रों का आचरण एक-सा नहीं रह पाता तो ब्राह्मणों के लाखों के समाज से आशा करना कि उन सभी का आचरण पूर्व ऋषियों की भाँति ही रहे यह संभव नहीं। उनमें बुराइयाँ हैं। इसे स्वयं ब्राह्मण समाज भी जानता और समझता है। परन्तु वे इसे समाप्त करने में असमर्थ हैं। समाप्त करना तो संभव नहीं है परन्तु कमी की जा सकती है और वह भी ब्राह्मण समाज द्वारा ही यह संभव है, किसी दूसरे के द्वारा नहीं।

बुराई तो सभी जगह है परन्तु यहाँ ब्राह्मणों में बुराई कष्टप्रद इसलिये है कि धैर्य का ध्वजा ही जिनके हाथों में है अर्थात् धार्मिक अनुष्ठान जिनके द्वारा होता है उनका आचरण ही यदि धर्मानुकूल नहीं होगा तो जनमानस पर उसका प्रभाव अत्यधिक विपरित पड़ना स्वाभाविक है। इस आचरण का ही परिणाम है कि जनमानस में नास्तिकों की तथा धर्म और धार्मिक कृत्यों को ढोंग पाखण्ड मानने वालों की संख्या बढ़ती जा रही है।

□

रिलीजन *(Religion)*—

भारतीय ऋषियों का कथन है कि जीवात्मा प्रारम्भ में विशाल ब्रह्म के साथ युक्त था। किसी समय परिस्थिति विशेष वश अथवा ईश्वर/ब्रह्म की इच्छा से यह विशाल ब्रह्म से अलग हो गया। अरबों खरबों वर्ष के कालचक्र के बीच करोड़ों योनियों में यह जीवात्मा नाना प्रकार के पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि में जन्म लेता हुआ भटकता रहता है। इसकी सर्वश्रेष्ठ गति है ब्रह्म के साथ पुनः युक्त हो जाना। इसी को परमगति, परमपद, ब्रह्म में लय, ब्रह्मसाक्षात्कार आदि भी कहा गया है। यही मनुष्य जन्म का चरम लक्ष्य है और यही अवस्था प्राप्त करना मनुष्य का धर्म है। यह अवस्था प्राप्त होती है ब्रह्म को मन से धारण करने पर।

Religion शब्द दो शब्दों के संयोजन से बना है, वे दो शब्द हैं Re और Legere। Re शब्द का अर्थ है पुनः और Legere का अर्थ है 'बाँधना' अर्थात् Religion का अर्थ हुआ 'पुनः बाँधना'। यह जीवात्मा जो कभी ब्रह्म से अलग हो गया है इसे पुनः ब्रह्म के साथ युक्त कर देना या 'पुनः बाँधने' को ही धर्म या Religion कहा गया है। उच्चकोटि के कोई ईसाई महात्मा ब्रह्म से युक्त होने की अवस्था को प्राप्त करने में सफल हुए और इसी को मनुष्य जन्म का चरम लक्ष्य अर्थात् सर्वश्रेष्ठ धर्म की मान्यता देकर उन्होंने अंग्रेजी में Religion कहा है। अवस्था की दृष्टि से धर्म और Religion दोनों एक ही अवस्था के सूचक है। परन्तु धर्म जिस अभिप्राय में व्यक्त होता है वह बड़ा व्यापक है लोक और परलोक दोनों को लेकर है।

मनुष्य के कर्तव्यों का फैलाव पितरों से लेकर वंशजों तक है। हम जिस समाज के अंग हैं उसमें मनुष्य के साथ देव और पशु-पक्षी भी हैं,

इन सबके प्रति भी समय के अनुसार मानवीय तथा नैतिक कर्तव्य उपस्थित होते हैं जिन्हें भी धर्म कहा गया है। ये कर्तव्य अर्थात् धर्म ही मनुष्य जन्म के सर्वश्रेष्ठ धर्म तक पहुँचाने में सहायक हैं। इन कर्तव्यों को पूरा किये बिना चरम लक्ष्य अर्थात् सर्वश्रेष्ट धर्म तक पहुँचने का विधाता ने कोई विधान नहीं दिया है। धर्म व्यक्ति के भीतर मानवीय तथा नैतिक गुणों का विकास करता है। धर्म आधारित समाज सभ्य, सुसंस्कृत, नैतिक एवं सदाचारी समाज के रूप में विकसित होता है। अतः धर्म ब्रह्म से युक्त होने की दशा में स्वयं और समाज दोनों के लिये आवश्यक है।

ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकारने, उनको समर्पण करने, समस्त मानवीय एवं नैतिक कर्तव्यों को पूरा करने तथा ब्रह्म के साथ युक्त होने की पूरी श्रृङ्खला ही धर्म शब्द में निहित है। जब कि Religion शब्द एकांगी है, वह केवल जीवात्मा को ब्रह्म के साथ 'पुनः बाँधने' को अर्थात् ईश्वर उपासना के प्रारम्भ से लेकर ब्रह्म के साथ युक्त करने को ही व्यक्त करता है। यह एक पंथ (सम्प्रदाय या मजहब) का द्योतक है। मानवीयता, नैतिकता, सदाचार तथा शिष्टाचार आदि इनके यहाँ भी प्रचलित एवं व्यवहृत है परन्तु इनके यहाँ यह नहीं कहा गया कि धर्म या चरम लक्ष्य (आत्मा को परमात्मा के साथ पुनः बाँधना) अर्थात् रिलीजन (Religion) की अवस्था प्राप्त करने के लिये मानवता तथा नैतिकता परम आवश्यक है, जब कि भारतीय ऋषियों की स्पष्ट मान्यता है कि इसके बिना चरम लक्ष्य प्राप्त करना असंभव है। मानवता तथा नैतिकता ही वह ऊर्जा है जो चरम लक्ष्य प्राप्त करने में मुख्य सहायक है। अतः मानवीय तथा नैतिक सभी कर्तव्यों अहिंसा, सत्य, उपकार, दान तथा दया आदि

को भी धर्म कहा गया है। इन कर्तव्यों के साथ जिस प्रकार धर्म को जोड़ा गया है उसी प्रकार रिलीजन (Religion) को नहीं जोड़ा गया है। उदाहरणस्वरूप कहा गया है— [१] अहिंसा परम धर्म है, [२] सत्य बोलना परम धर्म है, [३] परोपकार परम धर्म है आदि। परन्तु Religion शब्द का प्रयोग इसी प्रकार नहीं हुआ है जैसे [१] अहिंसा परम रिलीजन (Religion) है, [२] सत्य बोलना परम रिलीजन (Religion) है, [३] परोपकार परम रिलीजन (Religion) है आदि।

ईश्वर उपासना, ईश्वर के साथ युक्त होने, मानवीय तथा नैतिक कर्तव्य, सदाचार, शिष्टाचार आदि का समावेश जैसा धर्म शब्द में निहित है वैसा Religion शब्द में नहीं है। इसीलिये जैसा व्यापक भाव धर्म शब्द से व्यक्त होता है वैसा Religion शब्द से नहीं होता। एक ही अवस्था के सूचक होने के पश्चात् भी Religion शब्द धर्म शब्द का पर्यायवाची नहीं है।

□

धर्म निरपेक्ष—

विश्व भर में पूजापाठ, दर्शन तथा उपासना आदि के अनेक मार्ग हैं जिन्हें पंथ या रिलीजन (सम्प्रदाय या मजहब) कहा गया है, जैसे हिन्दू पंथ, इस्लाम पंथ, ईसाई पंथ तथा यहूदी पंथ आदि। परन्तु रिलीजन का अर्थ पंथ न लगाकर धर्म लगा लिया गया जिसके परिणामस्वरूप पंथ निरपेक्ष शब्द के स्थान पर धर्म निरपेक्ष शब्द आया। धर्म निरपेक्ष का उद्देश्य था धर्म (यहाँ अभिप्राय पंथ या सम्प्रदाय से था) को राजनीति से अलग रखना। परन्तु धर्म निरपेक्ष का अर्थ हो जाता है धर्म विहीन या अधर्म। इसका तात्पर्य हो गया राजनीति से धर्म अलग रहे तथा अधर्म चले। यह अभिप्राय किसी का न था और न है। परन्तु रिलीजन का अर्थ धर्म लेने के कारण ही पंथ निरपेक्ष के स्थान पर धर्म निरपेक्ष शब्द आ गया और अब यह विवाद का विषय बना हुआ है। जब तक धर्म निरपेक्ष के स्थान पर पंथ निरपेक्ष नहीं लाया जाता यह विवाद का विषय बना ही रहेगा।

□

शिवनारायण लाल की अन्य रचनायें :-

१. योग एवं एक गृहस्थ योगी।

२. विज्ञान के आलोक में अध्यात्म।

३. ब्रह्मचर्य एवं एक महायोगी। (यन्त्रस्थ)
[गृहस्थ महायोगी श्यामाचरण लाहिड़ी की जीवनी]

४. योग और स्वास्थ्य। (यन्त्रस्थ)